मेवाड़ गौरव-गाथा

लेखकः—

श्री राजेश गुप्त

प्रकाशकः—

देहाती पुस्तक भंडार (थोक पुस्तकालय)

चावड़ी बाज़ार, देहली ।

मूल्य ढाई रुपया २॥)

नोट—हिन्दूराष्ट्र के चार महा पुरुष व वीर पञ्चरत्न भी छपकर तैयार है

प्राप्ति स्थान:—

राष्ट्रीय प्रकाशन मंडल

चावड़ी बाज़ार,

देहली

❀ मूल्य ढाई रुपया ❀

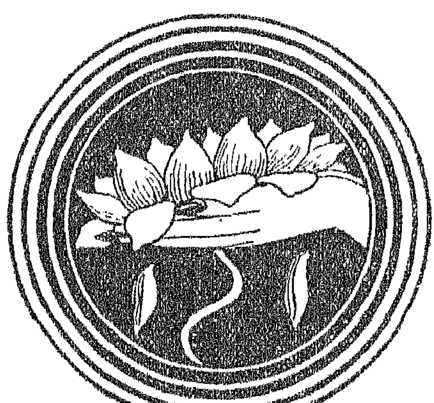
मुद्रक:—
कृष्णा प्रिन्टिंग प्रेस
चरखेवालान,
देहली।

* समर्पण *

यह कृति

राष्ट्र की उन अमर हुतात्माओं को "जिन्होंने पराधीन
देश में जन्म लेकर भी स्वतन्त्रता के पथ का
नव निर्माण किया तथा जिनका तेज
आज भी राष्ट्र के कण कण को
आलोकित कर रहा है। —"

सादर
समर्पित है।



❋ विषय-सूची ❋

मेवाड़ गौरव-गाथा

प्रथम परिच्छेद

मेवाड़-भूमि की महिमा

परतन्त्रता की बेड़ियों को, काटने वाले जहाँ
हो तत्पर करते रहे, संहार रिपुदल का वहाँ।
है विश्व में प्रसिद्ध जो, मेवाड़-भूमि नाम से;
ओ वीर-प्रसविनी भूमि तू, शतवार मम प्रणाम ले!

आज हम सदियों से जकड़े हुए दासत्व के लोहपाश से मुक्त होकर स्वतन्त्रता के मनोरम उद्यान में विचरने के योग्य हुए हैं। आज हमारे हृदय में आनन्द है, उत्साह है और है उन्नति के उच्चतम शिखर तक पहुंचने की महत्त्वाकांक्षा! हमें अभी बहुत काम करने हैं। सदियों से पिछड़ी हुई अपनी जाति को आगे बढ़ाना है, समाज का सुधार, धर्म का प्रचार, आर्थिक समस्याओं का उपचार तथा दैनिक जीवन के स्तर को ऊँचा उठाकर नैतिक-

उत्थान का प्रसार करना है। स्वतन्त्र होते ही हम प्रत्येक देश-वासियों का कर्त्तव्य बढ़ गया है। यह बात हमें कभी भी भूलनी नहीं चाहिए कि देश के उत्थान-पतन का सम्पूर्ण दायित्व हम पर—एकमात्र हमारे ऊपर है। अतः हमें अब आलस्य और निष्कर्म-ण्यता का सर्वथा परित्याग कर सर्वप्रथम अपने प्राचीन इतिहास का अध्ययन करना होगा और तब-अपने पूर्वजों के चमत्कार-पूर्ण कारनामों को हृदय में धारण कर, उनके बताये हुए आदर्श-पथ पर आगे बढ़ना चाहिये।

यूं देखा जाये तो हिन्दू जाति का सम्पूर्ण इतिहास ही आदर्शमय एवं त्यागपूर्ण भावनाओं से ओत-प्रोत है; पर हमें आज जिस ढांचे में अपने आपको ढालने की परम आवश्यकता है तथा आज की विषम परिस्थिति में जिस आदर्शपथ पर चलने से हमारा कल्याण होगा—वह है मेवाड़ का गौरवपूर्ण प्राचीन इतिहास! देशवासी ही नहीं, वरन् दुनिया भर की अन्य जातियें भी इस बात को भली भांति जानती हैं कि भारत के मेवाड़ प्रदेश में सदा वीर राजपूतों का ही जन्म होता रहा है। और उन्होंने जननि-जन्मभूमि की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए सदा-सर्वदा विदेशी शत्रुओं के दाँत खट्टे ही किये हैं। वे समय और परिस्थिति के शिकार नहीं बने बल्कि समय और परिस्थिति उन्हीं के वश में होती रही—भले ही शत्रु कितना भी बलवान एवं शक्तिशाली क्यों न रहा हो; पर उन्होंने कभी भी उनके आगे अपने को झुकने नहीं दिया! राज्य सुखों को त्याग

कर, ऐश्वर्यो का बलिदान करके तथा अपने प्राणों तक की आहुति देकर भी उन्होंने सदैव अपनी मातृभूमि को विधर्मियों के लोहपाश से मुक्त रखने की भरसक चेष्टा की।

भारत की प्राचीन संस्कृति और सभ्यतापूर्ण भूमि में मेवाड़ का नाम प्रातः स्मरणीय है। इस अञ्चल के वीर राजपुत्र शासकों ने भीषण से भीषण परिस्थिति में भयानक से भयानक कष्टों का सामना करते हुए भी आर्य जाति का गौरव सदा ही बनाये रखा। यह पवित्र मेवाड़ भूमि दक्षिण राजस्थान में अजमेर के पास है। इसका क्षेत्रफल प्रायः १३ हजार वर्गमील है। उधर आबू-पहाड़ (देवा) की सीमा से मिलता है। दूसरी ओर अरावली-पर्वतमाला इसके एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैली है। मेवाड़ की वर्तमान राजधानी उदयपुर है। यह अस्सी मील लम्बे-चौड़े पर्वत के मध्य में बसी हुई है। प्राचीन राजधानी चित्तौड़ भी पर्वत के ऊपर तथा चारों ओर पर्वतमालाओं से घिरी होने के कारण बहुत सुरक्षित स्थान है। प्रायः सारा मेवाड़ ही पर्वत श्रेणियों से घिरा हुआ तथा प्राकृतिक सौंदर्य का केन्द्र है। पर्वतों के बीच में आज भी तीन मील जाल चारों ओर फैली हुई स्वच्छन्दता-पूर्वक विहार करती है। इस वीर-प्रसविनी मेवाड़-देश की भूमि उर्वरा है। बनास नदी इसके बीच से होकर चम्बल नदी में जा मिलती है। यहाँ रुई और गल्ला विशेष रूप से पैदा होता है। पहले यह स्थान इन चीजों के लिये व्यापार-केन्द्र माना जाता था।

राजस्थान मरुभूमि में होने पर भी मेवाड़ में जल की कोई कमी नहीं है। इसका मुख्य कारण है वहाँ पर प्राकृतिक व अप्राकृतिक पोखरों का होना। मेवाड़ के राणाओं ने अपने-अपने नाम पर अपने वीरतापूर्ण उद्योगों की स्मृति में यहाँ तालाब खुदाये, जिनसे जल का अभाव कभी नहीं रहा। वे तालाब इतने बड़े-बड़े हैं कि उन्हीं के बीच राजभवन बनाये गये हैं, जिनके पास तक डोंगियों और नौकाओं द्वारा पहुँचा जाता है। इन तालावों में समुद्र की तरह बड़ी २ भयानक लहरें आती हैं। ग्रीष्म ऋतु में जनता वायु सेवन के लिये बहुत बड़ी संख्या में इन तालावों के तट पर जा पहुँचती है। महाराणा का वर्तमान महल जिसमें आजकल वे निवास करते हैं, तालाब के किनारे पर ही बना हुआ है। इसी महल के पास पुराने महल के अग्र-भाग में पीतल का एक बहुत बड़ा सूर्य लगा हुआ है, जो महा-राणाओं के सूर्यवंशी होने का परिचय देता है। नवीन महल के नीचे बहुत से बैठकखाने हैं, जिनमें से एक में उन राणाओं के चित्र हैं, जो चित्तौड़ से उदयपुर राजधानी में उठ आने पर सिंहासन पर बैठे। इन चित्रों में महाराणा प्रताप और महाराणा राजसिंह जी के चित्र बहुत विशाल बने हुए हैं। यहाँ की भौगोलिक स्थिति चारों ओर पहाड़ होने के कारण बड़ी सुरक्षित है।

मेवाड़ में यत्र-तत्र सर्वत्र पहाड़ ही पहाड़ होने के कारण मीलों तक बड़े-बड़े भीषण जंगल भी बहुतायत से फैले हुए हैं, जिनमें जहां-तहां पानी के झरने भी हैं। इन्हीं जंगलों में भील

लोग सपरिवार रह कर खेती करते हैं। भील बड़े वीर और स्वाभिमानी होते हैं। वे आज भी मेवाड़ के लिये रक्त बहाने को तैयार हैं। वे प्रायः काले होते हैं और देह पर वस्त्र धारण नहीं करते। लज्जा निवारण के लिये केवल सुपारी के पत्ते, बल्कल (पेड़ की छाल) अथवा मृगछालादि जानवरों की खाल का प्रयोग करते हैं। वे पत्तों की कुटिया बनाकर रहते तथा कृषकी कर अपनी जीविका चलाते हैं। शरद-ऋतु में कुटिया के आगे बड़े-बड़े लकड़ी के ढेर में आग लगाकर शीत से अपना बचाव करते हैं। उदयपुर से प्रायः बीस मील की दूरी पर प्रातः स्मरणीय वीर-शिरोमणि महाराणा प्रताप की पवित्र समाधि घने जंगलों के बीच जीर्ण अवस्था में अब भी मौजूद है। भीलों ने उसके ऊपर बांस लगा कर पत्ते-डाल रखे हैं। समाधि से दो-ढाई मील इधर-उधर जंगल में अभी तक भी वृक्षों में और पहाड़ के निरापद गुप्त स्थानों में लोहे के बड़े-बड़े कड़े और कीलें गाड़ी हुई दिखाई देती हैं। विदेशियों के आक्रमण के समय इन्हीं स्थानों में राजघराने के लड़के-लड़कियों को टोकरियों में भर कर कीलों और कुण्डों से बांध दिया करते थे।

चित्तौड़ में पहाड़ के ऊपर बारह-तेरह मील या इससे भी कुछ अधिक दूरी पर बड़ा भारी एक दुर्ग बनाया गया था। इस दुर्ग के अब केवल खण्डहर ही रह गये हैं, पर अनेक कमरे आज भी भग्नावस्था में खड़े हुए दिखाई देते हैं। दुर्ग के खण्डहरों ने महारानी पद्मिनी का महल, देवी का मंदिर, जैन-मंदिर

तथा जयस्तम्भ अब भी बचे हुए प्राचीन गौरव की याद दिलाते हैं। दुर्ग के भीतर भी कई तालाब हैं, जो अब सूखे पड़े हैं। पद्मिनी-गुफा के निकट एक गोमुखी झरना अब भी बह रहा है। यह स्थान चित्तौड़ की महासतियों के स्थान के नाम से प्रसिद्ध है। गुफा के दो दरवाजे हैं, जो अब बिल्कुल बंद हैं। पद्मिनी का स्मारक दो छतरियों का बना हुआ है, जिसकी लोग अब भी पूजा करते हैं। दुर्ग के भीतर जिन-जिन महाराणाओं के महल हैं; उन्हीं में उनकी समाधियें भी बनी हुई हैं। राणाओं की मूर्तियां घोड़ों पर सवार हैं। हाथ में तलवार या भाला और कमर में ढाल बंधी है। स्त्रियों की मूर्तियां खड़ी हैं, उनका पहनावा पुराने ढंग का है। महलों के भीतर अलग-अलग मूर्तियां रहने से पता चलता है कि वह किसकी मूर्ति है। चित्तौड़ में प्रवेश करते ही एक द्वार पर सरदार जयमल की दूसरे द्वार पर सरदार फतेहसिंह की छतरी है। ये दोनों इतिहास में जयमल और फत्ता के नाम से प्रसिद्ध हैं। अकबर के साथ युद्ध में इन्होंने वीरता दिखाई थी।

मेवाड़ में श्री एकलिङ्गेश्वर महादेव का मंदिर बड़ा प्रसिद्ध है। मेवाड़ के महाराणा इनके उपासक होते आये हैं। यह मंदिर उदयपुर के उत्तर में छः सात मील की दूरी पर है। मंदिर के चारों ओर पहाड़ और जंगल हैं। यहीं पहले हरीत ऋषि का आश्रम था। मंदिर की स्थापना सिसौदिय-वंश के आदि पुरुष महाराणा बाप्पा रावल ने की थी। महाराणा बाप्पा रावल

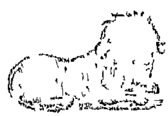
का पूरा हाल 'बाप्पा रावल' नामक पुस्तक में दिया गया है। मंदिर से कुछ दूर हट कर एक बहुत बड़ा तालाब बना हुआ है, जिसका जल बहुत ही स्वच्छ और पीने में स्वादिष्ट है। मंदिर का घेरा बहुत लम्बा-चौड़ा है और उसके भीतर नाना प्रकार के सुन्दर फूल उत्पन्न होते हैं। घेरे के भीतर भी एक तालाब और कई धर्मशालाएँ बनी हुई हैं, जिनमें दूर-दूर के यात्री आकर ठहरते हैं। मंदिर छोटा होने पर भी बड़ा सुन्दर बना हुआ है। महादेव जी मूर्ति के आगे पीतल का एक नादिया बना हुआ है। महादेव जी की मूर्ति बड़ी आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक है। ऐसी अनूठी मूर्ति भारत में शायद ही कहीं पर हो। मंदिर के बाहर नंगी तलवारों का पहरा रहता है। रणस्थल जाने के पूर्व महाराणा इस मन्दिर में पूजा करने आते थे। मेवाड़ के महाराणा एकलिङ्ग भगवान के 'दीवान' कहलाते हैं। आज भी हर महीने महाराणा शिव जी की पूजा करने 'एकलिङ्ग महादेव' के मंदिर में जाते हैं।

मेवाड़ के खास नगरों में उदयपुर, चित्तौड़, भीलवाड़ा और कपासन आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। देश की सम्पन्न अवस्था और उसके मनोमुग्धकारी दृश्यों को देख कर ही विदेशी आक्रमणकारियों के मुँह में पानी आ जाता है और वे उस देश पर सदल-बल आक्रमण कर बैठते हैं। दूसरे इस देश की वीर राजपूत जाति सदैव ही विदेशियों के हृदय में शूल की तरह चुभती रहती है और उन्हें भय रहता है कि कहीं वे उनकी शक्ति को

छिन्न-भिन्न करके स्वयं ही उनके स्थान पर सत्ताधिकारी न बन बैठें, इसीलिये उस देशपर विदेशियों की गृद्ध-दृष्टि सदा ही लगी रहती है। मेवाड़ के वीर राजपूतों ने समय पड़ने पर जिस ढंग से अपने देश की शत्रुओं से रक्षा की और अपनी स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रक्खा, उसे देख कर अनायास ही श्रद्धा और भक्ति से ओत-प्रोत हो हमारे मस्तक उनके चरणों में झुक जाते हैं। वे आदर्श वीर न केवल सच्चे देशप्रेमी और लड़ाके वीर सैनिक ही थे, बल्कि हिन्दू मात्र को स्वतन्त्रता का अमर सन्देश देने वाले सच्चे नेता, राष्ट्र-निर्माता और सैन्य-संगठन कर शत्रुओं का मान मर्दन करने वाले वीर सेनापति भी थे। हमें अपने जीवन को उसी सांचे में ढालकर तथा दैनिक दिनचर्या में उन्हीं के बताये हुए आदर्शों को अपना प्रत्येक कार्य उसी प्रकार करने चाहियें जैसा कि हमारे पूर्वजों ने किये थे।

महाराणा प्रताप ने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक वे अपने देश को शत्रुओं के लोहपाश से मुक्त न कर लेंगे, तब तक सोने-चांदी के बर्तनों की अपेक्षा पत्तों पर भोजन करेंगे, पलंग त्याग कर पाषाण-शिलाओं अथवा घास पर सोयेंगे और महलों के बदले जंगलों में कुटिया बना कर रहेंगे। उनकी इस प्रतिज्ञा की रक्षा के लिये मेवाड़ के महाराणा आज भी अपने थाल के नीचे पत्ते और बिछौने के नीचे घास रखवा लेते हैं तथा उनके शयनालय के आगे एक छप्पर रखवा लेते हैं। यह प्रथा उनके वंश में अभी तक प्रचलित है। महाराणा हिन्दू धर्म के पूर्ण अनुयायी होते हैं।

वे अपने भाई बेटों के साथ पुरानी प्रथा के अनुसार थाल लगवा कर भोजन करते हैं। जिन चारणों ने वीर रस की कविताएं गा गाकर मेवाड़ में प्राण फूंके थे, आज वहां उनका सर्वथा अभाव दिखाई देता है। उदयपुर में महाराणा की सच्चरित्रता की धूम आज भी चारों ओर गूंज रही है। मेवाड़ के महाराणा अन्य नरेशों की अपेक्षा बहुत सीधे साधे और नम्रता की प्रतिमूर्ति होते हैं। उनसे साधारण आदमी भी मिल सकता है। मेवाड़ के सरदार नई सभ्यता में लीन हुए। वे सदैव प्रजा के हित की ओर ध्यान देते हैं और देश प्रेम से उनका हृदय ओत-प्रोत है।



* द्वितीय परिच्छेद *

सिशोदिय-वंश का परिचय

भारत के शासक-राजपूत प्राचीन काल से दो वंशों में विभक्त हैं-एक सूर्यवंशी और दूसरे चन्द्रवंशी। दोनों वंशों की स्थापना प्रायः एक साथ ही हुई थी। ये दोनों वंश बहुत पुराने हैं। संसार के इतिहास में इन दोनों वंशों की स्थापना के पहले किसी राजवंश की स्थापना का उल्लेख प्राप्त नहीं होता सीरिया, चीन, और ईजिप्त (मिश्र) के राजवंश बड़े पुराने बताये जाते हैं। परन्तु वे भी भारत के सूर्यवंश और चन्द्रवंश के पहले के नहीं हैं। सूर्यवंश के आदि पुरुष महाराज मनु और चन्द्रवंश के आदि पुरुष बुध थे। पुराणों में भी इस बात का उल्लेख किया गया है कि दोनों वंशों के बीच परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध था। सूर्यवंश में प्रख्यात मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्री रामचन्द्र हुए। योगिराज श्री कृष्णचन्द्र जी, युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम, नकुल और सहदेव आदि चन्द्रवंशी क्षत्री थे। महाराज रामचन्द्र जी के लव और कुश नामक दो पुत्र थे। लव ने लोहकोट की स्थापना की, जो बाद में लाहौर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी लोहकोट में लव की सन्तान

बराबर शासन करती चली आई-पर हाय ! दुर्भाग्यवश आज उसी लोहकोट में पाकिस्तानी गुण्डों का राज्य है, जो निरन्तर हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति तथा हिन्दु सभ्यता पर कुठाराघात ही नहीं, वल्कि इन्हें नष्ट भ्रष्ट करने पर कटिबद्ध हैं। क्या दैव फिर कभी उस लोह-कोट को भारत में मिलाने की दया करेंगे ?

प्राय: सन् १४४ ई० में लव के एक वंशज ने, जिनका नाम कनकसेन था, लोह-कोट से प्रस्थान कर सौराष्ट्र में पहुँच, विराटगढ़ को अपनी राजधानी बनाई। यह विराटगढ़ या विराटनगर वही स्थान है जहाँ पाण्डवों ने द्रोपदी सहित अपने देश-निर्वासन का तेरहवाँ वर्ष भेष बदल कर बिताया था। इसके अनेक वर्ष उपरांत विजयसेन राजा ने विजयपुर की स्थापना की और वल्लभीपुर भी उन्होंने ही बसाया। मेवाड़ के प्राचीन कवियों का कहना है कि वल्लभीपुर से ही मेवाड़ के राजवंशियों की उत्पत्ति हुई महाराज कनकसेन की आठवें पीढ़ी में शिला दत्य नामक राजा वल्लभीपुर के सिंहासन पर बैठे। मल्लेच्छों ने उनपर आक्रमण किया और राज्य को नष्ट भ्रष्ट कर दिया। महाराज शिलादित्य के कई रानियां थीं, परन्तु महारानी पुष्यवती के सिवाय और सब रानियां उनके साथ सती हो गईं। पुष्यवती चन्द्रावती नामक स्थान के परमार-वंश के घराने की थीं शिलादित्य के मृत्यु के पूर्व ही रानी पुष्यवती के गर्भ रह गया था। मल्लेच्छों के आक्रमण के पहले ही वे

अपने मायके चली गई थीं । एक दिन वे किसी अन्य गांव में देवी की पूजा करने जा रही थीं, तभी रास्ते में उन्हें अपने पति की मृत्यु का संवाद मिला—पर गर्भवती होने के कारण वे सती न हो सकीं ।

पति का मृत्यु-संवाद सुन कर रानी पुष्पवती को बहुत दुख हुआ और तभी से वे अपने घर न जाकर एक पहाड़ की गुफा में रहने लगीं । ठीक समय उनके उसी गुफा में एक पुत्र उत्पन्न हुआ । गुफा के पास ही एक वीरनगर नामक गांव था, जिस में कमलावती नाम की एक ब्राह्मणी रहती थी । महारानी पुष्पवती ने उसी ब्राह्मणी को अपना नवजात-शिशु सौंपते हुए कहा,··· "कमला, तू इसे अपना पुत्र समझकर पालना और जब यह बड़ा हो जाये तो किसी क्षत्रिय कुल की कन्या के साथ इसका विवाह कर देना !" कमलावती के अपनी कोई सन्तान नहीं थी, अतः उसने सहर्ष उस बच्चे का पालन पोषण करने का भार अपने ऊपर ले लिया और उसी दिन से वह बड़े प्रेम से उसे पालने भी लगी । गुहा में पैदा होने के कारण उस बच्चे का नाम गोह रक्खा गया । ज्यूं ज्यूं वह बालक बढ़ने लगा त्यूं-त्यूं उसके शारीरिक विकास के साथ साथ ऊधमबाजी और नटखटपन भी उसका दिनों दिन बढ़ने लगा । वह बन-उपवनों में रहने के कारण सदा भीलों के साथ रहता और उन्हीं के समान आचरण करता । लाठी चलाना और धनुष-बाण से आखेट करना उसके बायें हाथ का काम था । खुली वायु और जंगलों के शुद्ध वातावरण में

पलने के कारण उसका स्वास्थ्य भी बहुत अच्छा था।

एक बार राजा मण्डलीक के पुत्र ने खेल-खेल में अपना अंगूठा काट उसके रक्त से उस बालक को तिलक करते हुए उसे अपना राजा बना लिया और तमाम भील बालकों ने भी उसके इस कार्य का समर्थन किया। तभी, जब वह ग्यारह वर्ष का हुआ तो मेवाड़ के ईदर नामक स्थान के भील-राज मण्डलीक ने उसे अपने सारे राज्य का भार सौंप दिया और इस प्रकार वह अनायास ही भीलों का राजा बन बैठा। गोह के वंशधर गहिलोत या गोहलोत के नाम से पुकारे गये और गोह की आठ पीढ़ियां निरन्तर भील जाति पर शासन करती रहीं। भील अपनी बात के इतने पक्के निकले कि गोह को राजा बना कर उन्होंने अपनी स्वाधीनता छिन जाने की तनिक भी परवाह नहीं की। गोह की आठवीं पीढ़ी में राजा नागादित्य हुए। किसी बात के पीछे भीलों और नागादित्य में परस्पर कुछ मनमुटाव हो गया। परिणाम यह हुआ कि एक दिन भीलों ने उन्हें घेर कर मार डाला। उस समय नागादित्य घर पर नहीं थे। एक हरिण का आखेट करने जंगल में निकले हुए थे वहीं पर वे भीलों की एक बड़ी संख्या द्वारा घेर कर मार डाले गये। नागादित्य के उस समय तीन वर्ष का एक बालक था, जो बाप्पा के नाम से पुकारा जाता था। मन्त्रियों ने उस बालक को कमलावती के वंशधरों को सौंप दिया। वे ही आजकल गहिलोतों के कुल-पुरोहित बने हुए थे।

नागदा नामक नगर में उन दिनों शिवोपासना करने वाले ब्राह्मण अधिक रहते थे। उस नगर के चारों ओर बड़ा घना जंगल था और वहां के निवासी भील भी महादेव जी की पूजा किया करते थे। बाप्पा उन्हीं भीलों के बीच अपने कुल पुरोहितों के घर पर रहने लगे। जब बाप्पा कुछ बड़े हुए तो भील-बालकों के साथ वे जंगल जाकर गायें चुगाने लगे। विधि के विधान को भला कौन मेट सकता है? सूर्यवंशी महाराज शिलादित्य के वंशधर आज ब्राह्मणों की गऊएं चुगा रहे थे! कौन जानता था कि इन्हीं गहिलोत कुल-भूषण महाराज बाप्पा के वंशधर क्षत्रिय नरेशों की जीवन कहानी इतिहास के रजत पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों में लिखी जायेगी। कहा जाता है कि नागदा नगर में उस समय सोलंकी वंश का राजा राज्य करता था। उसके कोकिला नाम की एक कन्या थी, जो अपनी सहेलियों के साथ सावन के महीने में एक दिन घूमती हुई उसी जंगल में जा निकली जहां बाप्पा अपने साथियों सहित गौवें चुगा रहे थे। वहां पहुंच कर राजकुमारी को झूला झूलने की इच्छा हुई, पर झूले की रस्सी न होने के कारण उन्हें बाप्पा की खुशामदें करनी पड़ीं। बाप्पा ने विवाह का खेल खेलने की शर्त पर झूला डालना स्वीकार किया। लड़कियों को झूलने की बहुत इच्छा हो रही थी इस लिए उन्होंने बाप्पा का प्रस्ताव मंजूर कर लिया। खेल आरम्भ हुआ और सोलंकी राजकुमारी के वस्त्र का एक छोर बाप्पा के वस्त्र से बांधा गया। सब लड़कियों के साथ इन दोनों ने एक आम के पेड़ की परिक्रमा

की। संयोगवश परिक्रमाएं उतनी ही हुईं, जितनी की वर-वधु के विवाह के समय की जाती हैं। खेल के पश्चात् झूला डाला गया और उन लड़कियों ने जी भर कर झूला झूला।

किसी ने उस दिन कल्पना भी नहीं की थी कि जो काम आज खेल-खेल में किया जा रहा है, वही एक दिन सत्य का रूप धारण करके उन्हें वास्तविक वर-वधु बना देगा। लड़कियां झूला झूल कर अपने घर चली गईं। एक दिन जब राजा ने पण्डितों और ज्योतिषियों को बुला कर अपनी कन्या के विवाह के लिये शुभ-लग्न देखने का प्रस्ताव किया तो ज्योतिषी के मुख से राजकुमारी के विवाहित होने की बात सुन कर सब को आश्चर्य-चकित हो स्तब्ध रह जाना पड़ा। परन्तु सोलंकी राजा के क्रोध की उस समय कोई सीमा न रही। उन्होंने उसी समय नागह्रद की ओर भेद खुलने पर तुरन्त बाप्पा को बन्दी बनाकर लाने की आज्ञा दी। बाप्पा के कानों में भी यह बात उड़ती हुई पहुँच गई। अपने ऊपर राजक्रोध उपस्थित देखकर उन्होंने उस समय वहां से टल जाना ही उचित समझा और वे अपने साथ बालेओ और देव नामक दो भील युवकों को लेकर वहां से पहाड़ों में भाग गये। उन्होंने अपने साथियों से प्रतिज्ञा कराई कि अन्त तक वे आपत्ति विपत्ति और युद्ध काल में भी सदा उनका साथ देंगे।

चित्तौड़ में उन दिनों 'परमार-वंश की शाखा—मौर्यवंश के राजा राज्य करते थे, जिनका नाम मान था। बाप्पा की मां पर-

मार-वंश की ही राजकुमारी थीं। इस नाते चित्तौड़ के राजा मान बाप्पा के मामा लगते थे। बाप्पा अपने साथियों को लेकर उन्हीं के पास चले गये। महाराज मान ने उन्हें अपना सामन्त बना कर उनके निर्वाह के लिये कुछ भूमि दे दी। यह कार्य वहाँ पुराने सामन्तों को बहुत बुरा लगा और वे बाप्पा से मन ही मन द्वेष करने लगे। उन्हीं दिनों एक यवन आक्रणकारी ने प्रबल सेना लेकर चित्तौड़ पर आक्रमण कर दिया। यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुकी है कि आक्रमणकारी कोई और नहीं, मुहम्मद बिन कासिम ही था, जिसने ७१२ ई० में सिन्धु नदी पार कर चित्तौड़ पर चढ़ाई की थी। आक्रमण के समय लड़ने के लिये जब सब सामन्तगण बुलाये गये, तो उन्होंने ताना मार कर कहा कि आप अपने भानजे (बाप्पा) से ही सहायता लें। सबने अपनी जागीरें भी छोड़ दीं। परन्तु बाप्पा तो भी हतोत्साह नहीं हुए। वे अकेले ही शत्रु का विनाश करने को उद्यत होगये।

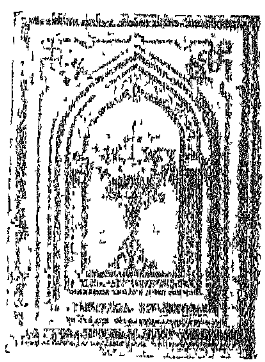
सामन्तों ने ईर्ष्यावश युद्ध में जाना अस्वीकार तो अवश्य कर दिया, पर देश प्रेम के वशीभूत हो वे लोग अपने को युद्ध में जाने से कदापि न रोक सके। लज्जावश उन्होंने चित्तौड़ की रक्षा करनी ही उस समय उचित समझी। वे सब म्लेच्छों का सामना करने गये और युद्धस्थल में बाप्पा के साथ-साथ लड़े। राजपूतों की वीर-बालाओं ने भी इस युद्ध में दिल खोल कर भाग लिया। हर संभव तरीके से उन क्षत्रिय-रमणियों ने युद्ध में

अपने पति, भाई और अन्य सगे सम्बन्धियों की सहायता की। युद्ध ने भीषण रूप धारण किया और वीर-राजपूतों ने दिल खोल कर अपने शत्रुओं के दांत खट्टे किये। सहस्त्रों यवन मौत के घाट उतार दिये गये और अन्त में मुहम्मद बिन कासिम को बुरी तरह से पराजित होना पड़ा। बाप्पा शत्रु पर विजय प्राप्त करके भी फिर चित्तौड़ नहीं लौटे और वहीं से रणभेरी बजाते हुए अपनी विजयी-सेना को लेकर वे खुरासान की ओर बढ़ गये। उन दिनों गजनी के किले में सलीम नामक एक मुसल्मान सरदार का अधिकार था। बाप्पा की विजयी-सेना को आती देख उसके हाथ-पांव ढीले हो गये और बड़ी आसानी से बाप्पा का उस किले पर अधिकार होगया। सलीम ने अपनी लड़की बाप्पा को व्याह दी।

खुरासान और गजनी पर अधिकार करके प्रायः एक वर्ष बाद बाप्पा पुनः चित्तौड़ लौट आये और वहां अपने मामा व अन्य सामन्तों की इच्छानुसार वे चित्तौड़ के प्रथम राणा बनाये गये। राजसिंहासन पर बैठने के बाद उन्होंने क़ाबुल, कंधार आदि अनेक यवन राज्यों पर विजय प्राप्त कर वहां के अधिकारियों की लड़कियों के साथ विवाह किया। उनके कुल १२८ पुत्र हुए थे। मुसल्मान शासकों की कन्याओं से जो पुत्र उत्पन्न हुए, वे सब नौशेरा पठान कहलाये। पूरे सौ वर्ष की आयु तक बाप्पा ने राजसुखों का उपभोग किया और इस बीच उन्होंने

अनेक देशों पर चढ़ाई कर उन पर विजय प्राप्त की। बाप्पा की मृत्यु होने पर सुनते हैं उनके पुत्रों में इस बात का विवाद उठ खड़ा हुआ कि उनका शव जलाया जाये या मुसल्मानों की तरह दफ़न कर दिया जाये। परन्तु अन्त में देखा गया कि उनकी लाश ही वहाँ से गायब हो गई और कपड़े के नीचे ताजा कमल के फूल पड़े हुए मिले। बाप्पा रावल अपने समय के एक ही वीर शासक थे। लोग उन्हें 'हिन्दू सूर्य' 'राजगुरु' और 'सार्वभौम' आदि अनेक उपाधियों से उनका मान-सम्मान और गौरव बढ़ाते थे। परमात्मा उनके आदर्शों पर चलने की हमें शक्ति प्रदान करें!

—:፨:—



तृतीय-परिच्छेद

महाराणा समरसिंह

बाप्पा रावल के स्वर्गारोहण के पश्चात् कुछ राणा ऐसे भी हुए हैं जिनका उल्लेख इतिहासों में नहीं मिलता। 'खोमान रासो' नामक पुस्तक में महाराणा खोमान की वीरता का वर्णन किया गया है। सन ८१२ ई० में खोमान चित्तौड़ के महाराणा हुए और उन्हीं के शासन काल में हेरूनुल रशीद के पुत्र मामून ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की; किन्तु महाराणा खोमान ने २८ बड़े-बड़े सरदारों को साथ लेकर इस वीरता से उस म्लेच्छ का सामना किया कि उसे हार मान कर युद्धस्थल से भाग जाना पड़ा। राजपूत वीरों ने यवनों को काट-काट कर ढेर लगा दिया। यवन सेना परास्त होकर भाग गई, किन्तु उनका सेनापति पकड़ा गया, जिसे वे जीवित ही चित्तौड़ ले आये। मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिये महाराणा खोमान को २४ बार शत्रुओं से युद्ध करना पड़ा और हर बार उन्होंने विजय ही प्राप्त की। दुर्भाग्यवश राज्य के लोभी एक राजकुमार ने, जिसका नाम मंगलसिंह था अपने पिता को मारकर स्वयं चित्तौड़ का राणा बन बैठा, पर शीघ्र ही उसे अपने पाप का फल भुगतना पड़ा और सरदारों ने उसे

गद्दी से उतार कर महाराणा के दूसरे पुत्र भर्तृभट्ट को राजसिंहासन पर बैठा दिया। इनके बाद पन्द्रह पीढ़ी तक जो मेवाड़ के शासक हुए, उनका विशेष वर्णन नहीं मिलता। केवल अजमेर के चौहानों के साथ मेवाड़ वालों के सम्बन्ध का उल्लेख मिलता है।

तदोपरान्त, बारहवीं शताब्दी में चित्तौड़ के राजसिंहासन पर महाराणा समरसिंह विराजमान हुए। उनके जीवन की घटनाओं का इतिहासों में विशेषरूप से उल्लेख किया गया है। जिस समय वे गद्दी पर बैठे, दिल्ली को छोड़, भारत में अनेक छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना हो चुकी थी—केवल दिल्ली की गद्दी प्रधान मानी जाती थी। कुंवर-वंशी महाराज अनङ्गपाल भारत के अन्तिम हिन्दू-सम्राट दिल्ली के राजसिंहासन को सुशोभित कर इस असार संसार से चल बसे थे। वे पुत्रहीन होने के कारण राज्य का उत्तराधिकारी चुनने की चिन्ता में सदा ही डूबे रहते। उनके केवल दो कन्याएँ थीं, जिनमें से बड़ी कन्या तो उन्होंने कन्नौज के राठौर-नरेश को ब्याह दी थी और छोटी का विवाह अजमेर के चौहान-वंश से कर दिया था। ठीक समय पर बड़ी कन्या से जयचन्द और छोटी से पृथ्वीराज का जन्म हुआ। महाराज अनङ्गपाल ने उन्हीं में से एक को अपने राज्य का उत्तराधिकारी बनाया। पृथ्वीराज में अनेक गुण देखकर दिल्ली का राजसिंहासन महाराज अनङ्गपाल ने उन्हीं को दिया; पर जयचन्द कहीं असन्तुष्ट न हो जाये, इस भय से उन्होंने उसे

भी राज्य का एक अंश दे दिया। किन्तु यह उनकी भूल थी। बड़ी राजकुमारी का पुत्र होने के नाते जयचन्द तो पहले से दिल्ली का अधिपति होने की कल्पना कर रहा था। महाराजा अनङ्गपाल के इस निश्चय ने जयचन्द की समस्त आशाओं पर तुषारपात कर दिया और वह मन ही मन कुढ़ कर समय की प्रतीक्षा करने लगा।

जब महाराज अनङ्गपाल की मृत्यु के बाद पृथ्वीराज दिल्ली के सिंहासन पर बैठे तो अन्य सभी राजाओं ने तो उन्हें अपना सम्राट मान कर उनकी अधीनता स्वीकार कर ली, परन्तु जयचन्द और उसके सहकारी राजाओं ने उनकी अधीनता स्वीकार नहीं की प्रत्युत अपनी ईर्ष्याग्नि शान्त करने के लिये जयचन्द ने एक उपाय ढूँढ निकाला। मन्दौर के राजा को समझा बुझा कर उसने उसकी कन्या के विवाह का प्रस्ताव पृथ्वीराज के पास भिजवा दिया, जिसे उन्होंने निष्कपट भाव से स्वीकार कर लिया; पर जब विवाह करने की बारी आई तो जयचन्द ने मन्दौर के राजा से कह कर अस्वीकार करा दिया। एक सम्राट के लिये यह अपमान क्या थोड़ा था? हिन्दू-कुलपति महाराज पृथ्वीराज ने अपने इस अपमान का बदला लेने के लिये तुरन्त एक बड़ी सेना उस ओर भेज दी। कुटिल जयचन्द ने उनकी सेना के बहुत से सरदारों को फुसला कर अपनी ओर मिलने का प्रयत्न किया। पर वह सफल न हो सका। हाँ, अपसकी

इस फूट से लाभ उठाने के लिए गजनी के शहाबुद्दीन गोरी ने चढ़ाई कर दी।

चित्तौड़ के महाराणा समरसिंह को पृथ्वीराज की पृथा नामक बहन ब्याही हुई थी। जब शहाबुद्दीन गोरी के चढ़ाई करने की सूचना एक दूत के द्वारा महाराणा को मिली तो उन्होंने तुरन्त पृथ्वीराज की सहायता करना स्वीकार कर लिया और एक बड़ी सेना को साथ लेकर वे दिल्ली की ओर चल दिए। दिल्ली पहुँच कर यह निश्चय किया गया कि महाराणा तो दुष्ट यवनों के साथ युद्ध करें, और पृथ्वीराज कुछ सेना लेकर पट्टन की ओर जायें, जहाँ का राजा उन दिनों विद्रोह करने पर तुला हुआ था। बात तय होते ही पृथ्वीराज सदल-बल पट्टन की ओर चले गए और महाराणा समसिंह अपनी और दिल्ली की तमाम सेना की कमान अपने हाथ में लेकर शहाबुद्दीन के मुकाबले में जा डटे। आन की आन में सहस्त्रों मुसल्मानों का सफाया करके महाराणा समरसिंह ने शहाबुद्दीन को गिरफ्तार कर लिया। इधर दिल्लीश्वर महाराज पृथ्वीराज भी पट्टन पर विजय प्राप्त कर वापिस लौट आए। शहाबुद्दीन पकड़ कर जब उनके सामने लाया गया तो तो तिनका मुँह में दाब कर क्षमा मांगते हुए उसने कहा,—"मैं गया हूँ—मेरा जी न मरण आपके हाथ है!" गाय का नाम सुनते ही महाराणा जी का हृदय बड़ा प्रभावित हुआ और उन्होंने तुरन्त पृथ्वीराज से कह कर उसे क्षमा करवा दिया। विजयोत्सव मनाने के बाद जब महाराणा चित्तौड़ लौटने लगे तो महाराज पृथ्वीराज

ने नारकाटि की भूमि से पाये हुए एक बड़े भारी खजाने का आधा भाग विद्यार्थी के उपलक्ष उन्हें दे दिया, जो कि महाराणा ने सब का सब अपनी सेना के प्रत्येक सैनिक को उसी समय बांट दिया और चित्तौड़ खाली हाथ वापिस चले गए।

एक बार भारत-सम्राट महाराज पृथ्वीराज ने एक राजसूय यज्ञ करने का विचार किया। देश-देशान्तरों में सन्देश भेजे गए। जयचन्द के कानों में भी उड़ती हुई यह खबर जा पहुँची तो उसके दिल पर साँप लोट गया। ईर्ष्या से वह पहले ही जलभुन रहा था, अब और भी द्वेषाग्नि पूरे वेग से धकधका उठी। वह तुरन्त ही इस पुनीत कार्य में विघ्न डालने को कटिबद्ध हो गया। जयचन्द की एक परम रूपवती कन्या थी, जिसका नाम संयुक्ता था। उसने अवसर देखते ही तुरन्त उस कन्या के विवाह का स्वयंवर रच डाला और दूर-दूर के राजाओं-महाराजाओं को उस के लिए आमन्त्रित किया। यह केवल स्वयंवर ही न था, बल्कि इसकी आड़ में राजसूय-यज्ञ की छिपी हुई उसकी कुटिल भावना भी थी। सभी राजे-महाराजों को इसमें निमन्त्रण दिया गया था, केवल पृथ्वीराज और महाराणा समरसिंह को ही उसने नहीं बुलाया था। राजकुमारी संयुक्ता बहुत पहले से ही पृथ्वीराज के गुणों पर रीझ कर मन ही मन उन्हें प्रेम करने लग गई थी। पृथ्वीराज को निमन्त्रण न देने की बात उसे शूल की तरह चुभी। इतना भर होता तो भी शायद वह सन्तोष कर लेती, पर कुटिल जयचन्द ने तो उस तरुण हृदया बालिका के कोमल हृदय को

ठेस पहुँचाने का एक और भी कार्य किया। स्वयंवर के सुसज्जित मंडप में, जहाँ दूर-देशों के नरेशों के लिये अलग-अलग स्थान निर्दिष्ट किये गये थे, वहाँ उसी मंडप के द्वार पर महाराज पृथ्वीराज की मूर्ति बनाकर द्वारपाल की जगह स्थापित की गई थी। यह उस युगल प्रेमिका के प्रेमी का अपमान ही नहीं था, बल्कि हिन्दू-पति भारत सम्राट महाराज पृथ्वीराज का अपमान था। इस उद्दण्डता का फल उसे मिलना ही चाहिये था।

राजकुमारी संयुक्ता ने तुरन्त इन सब बातों की सूचना एक दूत के द्वारा पृथ्वीराज को पहुंचा दी। महाराज पृथ्वीराज खबर पाते ही अपने कुछ चुने हुए सरदारों को लेकर कन्नौज जा पहुँचे और ठीक उस समय, जब कि राजकुमारी संयुक्ता ने चारों ओर घूम कर जयमाल उस प्रतिमा के गले में डाली, वे उसे उठा अपने घोड़े पर बैठा कर दिल्ली की ओर रवाना होगये। जयचन्द की सेना ने उनका पीछा भी करना चाहा, पर साथ में आये हुए वीर सैनिकों ने बीच में ही उस सेना को रोक लिया और तब तक वे संयुक्ता को लिये हुए दिल्ली भी जा पहुँचे। कुटिल जयचन्द को अपनी कुटिलता के लिये आये हुए कितने ही राजे-महाराजों के सामने बुरी तरह से लज्जित होना पड़ा। चला था महाराज पृथ्वीराज का अपमान करने, पर स्वयं ही उसे अपमानित होना पड़ा। इस घटना से जयचन्द की द्वेषाग्नि पर खूब ढेरों घी पड़ गया और वह पहले से कहीं अधिक वेगपूर्ण हो एकदम भभक उठी। उसने एक दूत भेजकर शहाबुद्दीन गोरी को फिर आक्रमण करने

के लिये बुलाया और इस बार उसे पूरी-पूरी सहायता देने का उसने वचन भी दिया। हाय रे देशद्रोही जयचन्द, धिक्कार है तेरे जीवन को! हिन्दू होकर तूने ही हिन्दू जाति के पाँव पर कुल्हाड़ी मारी। छिः छिः छिः धिक्कार है तुझे!

जयचन्द की सूचना पाते ही वह निर्लज्ज शहाबुद्दीन जो कुछ दिन पूर्व महाराज पृथ्वीराज से क्षमा मांग कर अपने देश लौटा था, पुनः आक्रमण की पूरी तैयारी कर एक बड़ी सेना साथ ले कुरुक्षेत्र के मैदान में आ डटा। दिल्लीपति महाराज पृथ्वीराज ने इस विपदकाल में फिर महाराणा समरसिंह को आमन्त्रित किया। महाराणा यद्यपि उन दिनों राजकार्यों से छुट्टी लेकर सदा धर्म-कार्य में ही लगे रहते थे, तो भी युद्ध के लिये निमन्त्रण पाते ही उनकी दोनों भुजाएँ फड़क उठीं और वे तुरन्त दिल्ली प्रस्थान करने को उद्यत होगये। महारानी पृथा ने उनसे कहा भी कि जब आप सब कार्यों से विरक्त होकर सदा भगवद्-चिन्तन में लीन रहते हैं, तो फिर आपको युद्ध में जाने से क्या प्रयोजन? महाराणा जी ने उत्तर देते हुए कहा, "यह आक्रमण मुझ पर नहीं, सारे देश पर है—तमाम हिन्दू जाति पर है। ऐसे समय घर में बैठ कर पूजा-पाठ नहीं, बल्कि युद्ध-स्थल में जाकर शत्रु का मान-मर्दन करना ही हमारा मुख्य कर्त्तव्य है! स्वदेश प्रेम और स्वाधीनता के मोहनी मन्त्र ने महाराणा के हाथ से माला रखवा कर पुनः उन्हें खड्ग धारण करने के लिये विवश कर दिया। तत्क्षण वे अपने वीर-सामन्तों और इष्ट मित्रों को लेकर

एक बड़ी सेना के साथ दिल्ली की ओर चल दिये; किन्तु इस बार न जाने क्यों चलते समय उनका हृदय कांप उठा। मार्ग में कई तरह के अपशकुन भी हुए। इन सब कारणों से महाराणा समरसिंह ने अपने राज्य की व्यवस्था कर जाना ही उचित समझा और शासन का भार अपने छोटे पुत्र कर्णसिंह को सौंप महारानी को भी साथ ले दिल्ली चले गये।

दिल्ली में महाराणा जी का बड़ी धूमधाम से स्वागत किया गया। कहा जाता है कि संयुक्ता के आने के बाद महाराज पृथ्वीराज बहुत कम अपने महलों के बाहर निकलते थे। पर महाराणा समरसिंह का स्वागत उन्होंने स्वयं कविवर चन्द के साथ कई कोस आगे चल कर किया और उन्हें बड़े आदर व सम्मान के साथ अपने महलों में लिवा लाये। दिल्ली में युद्ध के लिये उस समय तक कोई तैयारी नहीं की गई थी। महाराणा के पहुंचते ही बड़ी शीघ्रता से अपनी सेना सजा कर महाराज पृथ्वीराज स्वयं उसके सेनापति बने और कुरुक्षेत्र के मैदान में पहुँच कर युद्ध के लिये शत्रु को ललकारा। बड़ा घोर संग्राम हुआ। दोनों ओर के सैनिक कट-कट कर भूमि पर गिरने लगे, रक्त पानी की तरह मैदान में बहने लगा। राजपूत वीरों ने डटकर अपने शत्रु का मुकाबला किया। किन्तु इस बार के युद्ध में पहले वाली बात न थी। वे ही हिन्दू नरेश जो पिछली बार युद्ध में स्वदेश प्रेम के वशीभूत होकर महाराज पृथ्वीराज के पक्ष से शत्रुओं के साथ लड़े थे, अब देशद्रोही जयचन्द के बहकाने से शत्रु का पक्ष लेकर लड़

रहे थे। हिन्दू होकर एक विश्वासघाती यवन की खातिर हिन्दू के रक्त से अपनी तलवार की प्यास बुझा रहे थे। ऐसा भी कहीं दुनियाँ के इतिहास में देखने को मिला है? एक जाति किसी दूसरी जाति के लिए अपनी ही जाति का गला काटे! हाय री हिन्दू जाति, तेरी दुर्दशा और इससे अधिक क्या हो सकता है?

कुल कलंकी जयचन्द और उसके सहकारी हिन्दू राजाओं की सहायता पा कर शहाबुद्दीन गोरी का बल कहीं अधिक बढ़ गया। तीन दिन घमासान युद्ध होने के पश्चात् आखिर वह कुघड़ी भी आ गई, जबकि भारत के गौरवपूर्ण भाग्य का चमकता हुआ सूर्य अस्त होने वाला था। महाराणा समरसिंह १२ हजार क्षत्रिय वीरों का साथ ले खूब दिल खोलकर लड़े और लड़ते-लड़ते ही अपने पुत्र सहित वे वीरगति को प्राप्त हुए। मुसलमानों की बढ़ी हुई सेना के आगे महाराज पृथ्वीराज की इतनी अल्प सेना भला कैसे जीत सकती थी? अन्त में वही हुआ, जो होना चाहिये था। पृथ्वीराज के पुत्र रणसिंह भी इस युद्ध में काम आये और महाराज पृथ्वीराज बन्दी बना कर गजनी भेज दिए गये। चौहान कुल का प्रदीप बुझने के साथ ही साथ भारत का गौरव भी नष्ट हो गया और दिल्ली के सिंहासन पर शहाबुद्दीन का अधिकार हो गया। दिल्ली विजय करने के बाद ही उसने कन्नौज पर भी चढ़ाई करदी। जयचन्द इसके लिए जरा भी तैयार न था। अतः गोरी के भय से वह एक नौका में सवार हो कर भागा; किन्तु उसके पाप का फल तुरन्त मिलना था, इसलिए

नौका जल-मग्न हो गई और वह अपने पीछे विश्वासघाती, कुल-कलंकी, देशद्रोही आदि अनेक अपकीर्तियों का ढेर छोड़कर सदा सर्वदा के लिये नदी के गर्भ में समा गया। ऐसे नारकीय जीवों का देश की पवित्र भूमि पर न रहना ही कहीं अधिक श्रेयस्कर है।

कुछ दिनों के बाद महाराज पृथ्वीराज के परम प्रिय बन्धु कविवर चन्द ने विचार किया कि गजनी जाकर किसी तरह महाराज का यवनों के बन्दीगृह से उद्धार करना चाहिये। ठीक समय पर वे गजनी जा पहुंचे। बड़ी कठिनाई से उन्हें महाराज के पास जाने की आज्ञा हुई। महाराज की दोनों आंखें फोड़ दी गई थीं और उन्हें लोहे की बड़ी-बड़ी मोटी जंजीरों से जकड़ा हुआ था। महाराज की यह दशा देखते ही चन्द्र कवि का हृदय दारुण दुःख से उमड़ पड़ा और उनकी आंखों में आंसू छलछला आये। पर अपने मित्र को पहुँचा हुआ सुनते ही महाराज हर्षातिरेक से इतना उद्विग्न हो उठे कि लोहे की भारी जंजीरों सहित उठ कर खड़े होगये। जब शहाबुद्दीन को यह बात मालूम हुई तो उसने सौ मन की लोहे की सांकल उनके गले में डाल देने की आज्ञा दी। महाराज का कष्ट कविवर चन्द के लिये असह्य हो उठा और उन्होंने बादशाह के पास जाकर कहा कि महाराज को इतना कष्ट देना उचित नहीं, अच्छा तो यह था कि आप उनके शब्द-वेध के चमत्कारपूर्ण कारनामे देखते। शहाबुद्दीन को यह बात जँच गई। बड़े मोटे-मोटे लोहे के सात तवे बनवा कर दीवार में जड़वाये गये। दिन निश्चित हुआ और महाराज

पृथ्वीराज दरबार में लाये गये। चन्द ने शहाबुद्दीन से कहा जब मैं अपनी कविता कह चुकूँ तो आप 'शाबाश' बोल कर महाराज पृथ्वीराज को उत्साहित करें। बादशाह ऊपर की एक खिड़की पर जा बैठा और महाराज पृथ्वीराज के हाथ में धनुष-बाण लाकर दिये गये, पर वे सब टूट गये। जब अन्त में उन्हीं का निजी धनुष-बाण लाकर दिया गया, तो वे शब्द-बेध करने को तैयार हुए। कविवर चन्द ने कविता कहनी शुरू की—

इही बाण चहुआन, राम रावण उत्थप्यो।
इही बाण चहुआन, कर्ण-शिर अर्जुन कट्यो॥
इही बाण चहुआन, शंभू त्रिपुरासुर संध्यो।
इही बाण चहुआन, भ्रमर लछमण कर बेध्यो॥
सोबाण आजतो कर चढ़्यो, चढ़े विरद सांचो चवे।
चहुआन राज संभर धनी, मत चूके मोटे तवे॥

दोहा—चार बंस चौबीस गज; आंगुल अष्ट प्रमान।
मार मार मोटे तवे, मत चूके चहुआयन॥

इस कविता का गूढ़ अर्थ महाराज पृथ्वीराज समझ गए। कविता समाप्त होते ही ज्यूं ही शहाबुद्दीन ने खिड़की से अपना सिर निकालकर 'शाबाश' कहा, त्यूं ही महाराज पृथ्वीराज ने सौ मन की लोहे की जंजीरें लादे हुए ऐसा ताक कर निशाना मारा कि वह बाण सातों तवों को बेधता हुआ शहाबुद्दीन के सिरमें जा लगा और सिर धड़ से अलग हो कर भूमि पर दूर जा पड़ा। दरबारियों में कोलाहल मच गया और वे सब इधर उधर भागने

लगे। मुसल्मानों के हाथों मारे जाने के पूर्व ही कविवर चन्द ने महाराज पृथ्वीराज का मस्तक अपने खड्ग से उड़ा दिया और महाराज के खड्ग से चन्द कवि का सिर कट कर दूर जा गिरा। यह सब काम इतनी फुर्ती से हुए कि एक भी यवन उनके पास तक न फटक सका और इस प्रकार भारत के दो रत्न विदेश जा कर एक साथ ही वीर गति को प्राप्त हुए। पहले एक समय दोनों ने प्रतिज्ञा की थी कि दोनों एक साथ मरेंगे, वह प्रतिज्ञा उन दोनों की आज पूरी हो गई और महाराज पृथ्वीराज के भक्त ने बन्दी गृह की दारुण यन्त्रणाओं से अपने स्वामी का उद्धार कर दिया। धन्य महाराज पृथ्वीराज ! धन्य कविवर चन्द, तुम्हारी स्वामी भक्ति को !!

इधर युद्ध के समाप्त होते ही महारानी पृथा और महारानी संयुक्ता ने चिता में भस्म होकर अपने क्षत्रिय-धर्म का पालन किया। महाराणा समरसिंह यद्यपि दिल्ली जाने के पूर्व ही राजकुमार कर्णसिंह को राज्य का उत्तराधिकारी बना गये थे, परन्तु उनकी अल्पायु होने के कारण वे शासन का भार भली भांति वहन नहीं कर सकते थे। इसलिये उनकी माता कर्णदेवी ही शासन का सब कार्य किया करती थीं। चित्तौड़ की गद्दी पर अनुभव हीन एक बालक को बैठा देखकर दिल्ली के तत्कालीन मुसल्मान शासक कुतुबुद्दीन ऐबक ने मेवाड़ की पवित्र भूमि पर चढ़ाई कर दी। महारानी कर्णदेवी को जब शत्रु के आक्रमण

का पता चला तो वे स्वयं ही रणस्थल में जाने को तैयार होगईं। रणभेरी के बजते ही सभी सरदार और सामन्तगण अपनी २ सेनायें सजा कर चित्तौड़ पहुंच गये। वीर माता कर्णदेवी ने स्वयं लोहे का भारी बख्तर धारण किया। जिन हाथों में सदा सोने के रत्नजटित कङ्कण पहने जाते थे, उन्हीं सुकोमल हाथों में आज देश की स्वाधीनता के लिये लोहे के अस्त्र-शस्त्र सुशोभित हो रहे थे। महारानी ने साक्षात् रण चण्डी का वेष धारण कर स्वयं सेना की हिरावल (अगवानी) ग्रहण की।

अम्बर के समीप, जहाँ कुतुबुद्दीन ऐबक अपनी छावनी का पड़ाव डाले पड़ा था, महारानी की वीर सेना ने आक्रमण किया। युद्ध ने विकट रूप धारण किया और देशप्रेम व स्वदेशानुरागी राजपूत वीरों ने शत्रु की पंक्ति की पंक्तिएँ देखते-देखते साफ़ कर दीं। क्षत्राणी के प्रचण्ड तेज के सामने भला कौन ठहर सकता था? सम्पूर्ण यवन सेना का संहार कर दिया गया। नवाब कुतुबुद्दीन ने बड़ी कठिनाई से अपने कुछ सैनिकों के साथ भाग कर अपनी जान बचाई। कर्णदेवी विजय-पताका फहराती हुई अपनी राजधानी में लौट आईं। वे जब तक जीवित रहीं, बड़ी सतर्कता और बुद्धिमानी से राज्य का सब काम करती रहीं! सन् ११९३ ई० में राजकुमार कर्णसिंह ने पूर्ण रूप से शासन-भार अपने ऊपर ले लिया। कुछ दिनों बाद महाराणा कर्णसिंह के स्वर्ग सिधारने पर उनके पुत्र राहुक सन् १२०१ ई० में राज्य

के अधिकारी बने। इनके शासन-काल में यवन-सेनापति शम-शुद्दीन ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया, जिसे मार्ग में ही नगर-कोट के मैदान में घेर कर महाराणा राहुक ने बुरी तरह से परास्त कर दिया। शमशुद्दीन महाराणा के भय से ऐसा भागा कि उसका कहीं पता तक न चला। इस विजय के उपलक्ष में महाराणा ने 'शिशोद' नामक एक नगर की स्थापना की, तभी से मेवाड़ के महाराणा शिशोदिया कहलाये। अड़तीस वर्ष तक राज्य करने पर महाराणा राहुक ने स्वर्ग यात्रा की। इनके बाद नौ पीढ़ी तक विशेष कोई बात नहीं हुई। इतिहास में कोई उल्लेख भी नहीं किया गया है।

चतुर्थ-परिच्छेद

महिला-रत्न पद्मिनी

और महाराणा लक्ष्मणसिंह ?

कौन इतिहास पढ़ने वाला हिन्दू ऐसा होगा, जिसने महारानी पद्मिनी का नाम न सुना होगा। सिंहलद्वीप के निवासी चौहान-वंशीय हमीरशाख की वे परम रूपवती कन्या थीं। उनका विवाह क्षत्रिय कुल कमल वीर शिरोमणि महाराणा लक्ष्मणसिंह के चाचा राणा भीमसिंह जी के साथ हुआ था। सन् १२७५ ई० में महाराणा लक्ष्मणसिंह चित्तौड़ के राजसिंहासन पर बैठे, किन्तु आयु कुछ कम होने के कारण राज्य की देखभाल उनके चाचा राणा भीमसिंह ही किया करते थे। महारानी पद्मिनी की सुन्दरता देश-विदेशों में इतनी विख्यात थी कि वही सुन्दरता मेवाड़ के ऊपर विपद् की काली घटा बनकर छागई। दिल्ली के तख्त पर उन दिनों अलाउद्दीन खिलजी बैठा हुआ था। उस दुराचारी के कान में भी जब महारानी पद्मिनी के मनमोहक सौन्दर्य की बात गई तो उसके मुँह में पानी भर आया और वह रात दिन उन्हें पाने की चिन्ता करने लगा। परन्तु युद्ध किये बिना उसकी इच्छा पूरी होना कठिन ही नहीं वरन् असंभव भी था। बहुत-कुछ

सोचकर अन्त में उसने चित्तौड़ पर चढ़ाई करदी।

अलाउद्दीन ने दिल्ली से चल कर चित्तौड के चारों ओर घेरा डाल लिया। कई दिन तक वह घेरा डाले पड़ा रहा और पद्मिनी को प्राप्त करने के लिये उसने पूर्ण चेष्टा की, परन्तु जब कोई परिणाम न निकला तो धूर्त अलाउद्दीन ने ढिंढोरा पिटवा दिया कि पद्मिनी को पाते ही वह दिल्ली वापिस लौट जायेगा। इस समाचार को पाते ही स्वाभिमानी क्षत्रिय-वीरों के क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। कई दिनों तक भी जब उस ढिंढोरे का कोई लाभ न हुआ तो एक दूत भेजकर अलाउद्दीन ने राणा भीमसिंह को कहला भेजा कि यदि एक बार महाराणी पद्मिनी को उसे दिखा दिया जाये तो वह चित्तौड़ से चला जायेगा, अन्यथा युद्ध होना निश्चित है और जरा-सी बात के पीछे दोनों ओर की सेनाओं को कटवाना कोई बुद्धिमानी नहीं। इसलिए अच्छा तो यही होगा कि उसे पद्मिनी को दिखा दिया जाये। राणा भीमसिंह के पास जब यह खबर पहुंची तो उन्होंने भी यह सोच कर कि इस जरा सी बात के पीछे क्यों व्यर्थ का युद्ध किया जावे; महाराणी जी के प्रतिवाद करने पर भी अलाउद्दीन का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

महाराणा लक्ष्मणसिंह के महल के एक कमरे में अलाउद्दीन को बुलाने का प्रबन्ध किया गया। नीचे एक आईना इस प्रकार लगाया गया कि जिसमें ऊपर छत पर खड़ी हुई महाराणी पद्मिनी का प्रतिबिम्ब दुराचारी अलाउद्दीन भली प्रकार देख सके। इस

सब तैयारियों के बाद अलाउद्दीन को दुर्ग के भीतर बुलाया गया। अलाउद्दीन यह भली प्रकार जानता था कि राजपूत अपनी बात के पक्के होते हैं और अपने अतिथि के साथ किसी तरह का विश्वासघात तो वे कभी स्वप्न में नहीं कर सकते। इसी धारणा के बल पर उसे कुछ इने-गिने सैनिकों को साथ लेकर दुर्ग में आने का साहस हुआ। उसकी धारणा निर्मूल भी नहीं थी। दुर्ग के भीतर उसने जाकर देखा कि एक अतिथि के सत्कार के लिये जिन बातों का होना जरूरी होता है, वही सब तैयारियां उसके लिये भी की गई थीं। यह जानते हुए भी कि अलाउद्दीन अपने कुत्सित-विचार लेकर वहां आरहा है, धर्मपरायण राणा भीमसिंह ने उसका आदर-सत्कार करने में कोई कमी नहीं आने दी। कामुक अलाउद्दीन महारानी पद्मिनी का प्रतिबिम्ब देखते ही मूर्छित हो भूमि पर गिर पड़ा। पास खड़े हुए वीरवर गोरा और बादल ने म्यान से तलवारें निकाल लीं और चाहा कि उस नीच को उसी क्षण मार कर समाप्त कर दें, परन्तु महाराणा भीमसिंह ने उन्हें तुरन्त रोक दिया। यह काम क्षत्रियों की शान के विरुद्ध था।

दुष्ट अलाउद्दीन मूर्च्छा टूटने पर भी अपने चारों ओर उसी जगद्विमोहिनी सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति को देखने की कल्पना कर रहा था। कुछ देर बाद उसने चलने की तैयारी की। राणा भीमसिंह उसे पहुँचाने के लिये अकेले ही दुर्ग के बाहर तक आये। अलाउद्दीन के शस्त्रधारी सिपाही पहले से ही छिपे हुए खड़े थे,

जो इशारा पाते ही एक दम राणा जी के ऊपर टूट पड़े और क्षणमात्र में उन्हें बन्दी बना लिया। यह है इन विश्वासघातियों के साथ भलाई करने का नतीजा! पड़ाव में पहुँच कर अलाउद्दीन ने ढिंढोरा पिटवा दिया कि यदि पद्मिनी को उसके सुपुर्द कर दिया जाये तो वह राणा भीमसिंह को छोड़ देगा। विश्वासघाती यवन-शासक का समाचार चित्तौड़ भर में फैल गया। स्थान २ पर इसी बात को लेकर वाद-विवाद होने लगा। युद्ध में राणा बन्दी हो जाते तो शायद क्षत्रियों को जरा भी दुःख न होता। पर यह तो उस दुष्ट ने कपट से उन्हें बन्दी बनाया था। अब केवल दो मार्ग थे-युद्ध किया जाये या पद्मिनी को भेजा जाये। वीर राजपूत लड़ते हुए प्राण-विसर्जन करना कहीं अधिक पसन्द करेंगे, पर अपनी ख्याति पर जरा भी धब्बा न आने देंगे। महाराणा लक्ष्मण सिंह, गोरा और बादल के साथ महारानी पद्मिनी ने गुप्त-परामर्श किया और शीघ्र ही यह बात चारों ओर फैल गई कि राणा भीमसिंह को लाने के लिये स्वयं पद्मिनी जा रही हैं।

इस बात से चित्तौड़ भर में खलबली मच गई। सब सोचने लगे—हे भगवान! यह क्या अन होनी घटना होने वाली है? जो बात कभी मेवाड़ के इतिहास में ढूँढे से न मिलेगी, वही अब महारानी पद्मिनी सहर्ष करने को तैयार हैं! क्या वास्तव में यह सब उन्हीं की इच्छानुसार हो रहा है? इसी प्रकार जो जैसा सोचता, अपने विचार दूसरों पर व्यक्त कर डालता। प्रत्येक नगरवासी के मन में असन्तोष की लहर उठ खड़ी हुई और यह लहर उत्तरोत्तर

बढ़ती ही गई। सामन्तों, सरदारों और अन्य सैनिकों की तो कौन कहे जन साधारण में भी कोई इस बात के लिए तैयार न था कि राणा भीमसिंह को छुड़ाकर लाने के लिये स्वयं पद्मिनी जी वहां जायें।

नगर में इस बात को लेकर जबकि असन्तोष की ज्वाला पूरे वेग से धकधका उठी थी, उधर महाराणी का भेजा हुआ एक दूत अलाउद्दीन के पास भी पहुँच चुका था। दूत ने जा कर यह सूचना दी कि महाराणी जी अपने पति की रक्षा के लिये यहां तैयार हैं, किन्तु शर्त यह है कि एक तो राणा जी को छोड़ कर जिस दिन आप यहां से जाने की तैयारी करेंगे, उसी दिन वे यहां आयेंगी। दूसरे उनकी सखी-सहेलियों के डोले जो उन्हें छोड़ने के लिये यहां तक आयेंगी, कोई भी सैनिक उनके साथ छेड़-छाड़ न करे और न ही उनके डोलों को कोई स्पर्श करे। अलाउद्दीन के हर्ष का कोई ठिकाना न रहा। तुरन्त दोनों शर्तें मान कर उसने अपनी सेना के पड़ाव में यह मनादी करवा दी कि यदि कोई भी उन डोलों को स्पर्श करेगा तो उसे कठोर दण्ड दिया जायेगा। इसके बाद उसने अपनी छावनी में खूब रोशनी कराई और महाराणी पद्मिनी के स्वागत की तैयारियां करने लगा।

निश्चित समय पर चित्तौड़ के दुर्ग से सात सौ पालकियां बाहर निकलीं। प्रत्येक पालकी को चित्तौड़ के छः छः वीर राजपूतों ने उठाया हुआ था और हर पालकी के भीतर शस्त्रधारी

एक-एक राजपूत वीर स्त्री-वेष में बैठा हुआ था। सूचना मिलते ही अलाउद्दीन के डेरे में हल्ला मच गया। स्वयं बादशाह की खुशी का कोई ठिकाना ही न था। उसने पहले से एक बड़ा तम्बू अलग तनवा दिया था, जिसमें वह सब डोले एक जगह ही उतारे गये। इतने में अलाउद्दीन से जाकर कहा कि महारानी जी अन्तिम बार अपने पति से मिलना चाहती हैं। कामान्ध अलाउद्दीन ने आध घण्टे का समय राणा भीम सिंह को पद्मिनी से मिलने को दिया। राणा जी के आते ही एक राजपूत ने पालकी से निकल उन्हें उसमें बैठा दिया। इशारा पाते ही वह पालकी पुनः चित्तौड़ की ओर वापिस भेजदी गई और साथ में पांच-सात पालकियें और भी उनकी सहायता के लिये वहां से चल दीं। कुछ दूर जाकर राणा जी को अपना घोड़ा कसा कसाया तैयार मिला और वे उस पर चढ़ कर सकुशल दुर्ग के भीतर आ पहुँचे। राणा भीमसिंह को चित्तौड़ तक निरापद पहुंचाने में वीर गोरा बादल का प्रमुख हाथ रहा।

इधर जब आधा घंटा पूरा हो गया और राणा भीमसिंह तम्बू से वापिस न लौटे तो अल्लाउद्दीन क्रोध के मारे एक बारगी ही उबल पड़ा। वह कामातुर मदोन्मत्त हो स्वयं ही तम्बू के भीतर चला गया और पालकी का पर्दा उसने अपने हाथ से ऊपर खींच लिया। बस, फिर क्या था—राजपूत वीरों ने पालकियों से निकल निकल कर युद्ध करना आरम्भ कर दिया। कई वीरों ने अल्लाउ-द्दीन के ऊपर भी वार किये, किन्तु बख्तरबन्द होने के कारण

उसे क्षति न पहुंच सकी और वह बच कर वहां से बाहर निकल आया। यवन-सेना के बीच खल बली मच गई और जो जिस अवस्था में था, उसी अवस्था में तलवार लेकर लड़ने लगा। चारों ओर से 'मारो-मारो, काटो-काटो' की ही ध्वनि सुनाई पड़ती थी। पालकियों के साथ आए हुए प्रायः पांच हजार राजपूत वीरों ने शत्रु की सेना में तहलका मचा दिया। राजपूत सेना के प्रधान नायक वीर वर गोरा और बादल ने म्लेच्छों से लड़ने में वह वीरता दिखाई कि शत्रु भी जिसे देख कर दंग रह गया। इन्हीं दो साहसी वीरों का काम था कि इतनी बड़ी यवन-सेना को उस समय तक रोक रखा, जब तक कि राणा भीमसिंह जी चित्तौड़ के दुर्ग में सुरक्षित न पहुँच गए। बारह वर्ष के बालक वीर बादल की रणचातुरी देख कर अल्लाउद्दीन को भी दांतों तले अंगुली दबा लेनी पड़ी।

वीरवर गोरा वीर बालक बादल के चाचा थे। अपने पांच हजार साथियों को लेकर उन्होंने युद्धस्थल में ऐसी वीरता दिखाई कि सहस्त्रों यवन देखते देखते धूरि में धराशायी हो गये। खून की नदी बह चली। राजपूत वीरों ने अल्प संख्या में होते हुए भी शत्रुओं के छक्के छुड़ा दिए। इतनी बड़ी सेना का नाश करवा कर अन्त में अल्लाउद्दीन को भाग कर ही अपनी जान बचानी पड़ी। इस युद्ध का 'खोमान-रासो' में बड़ी अपूर्वता से वर्णन किया गया है। यद्यपि दुराचारी अल्लाउद्दीन को इस युद्ध में बुरी तरह से हार खानी पड़ी, किन्तु वीर गोरा जैसे परम

स्वामी भक्त सेना नायक, शत्रु का मान मर्दन करते हुए स्वयं भी वीर गति को प्राप्त हो गए। वे आज दुनियां में हमारे बीच नहीं हैं, किन्तु उनकी कीर्ति हिन्दुओं के इतिहास में सदा सर्वदा अमर रहेगी और हमारे देश के वीर सैनिक उनके बताये हुए आदर्श पथ पर चलने में परम गौरव का अनुभव करेंगे। यद्यपि इस युद्ध में विजय श्री महाराणा जी को ही मिली, किन्तु गोरा जैसे वीर सेनापति और उनके साथ अन्य पांच हजार क्षत्रिय वीरों को खोकर मेवाड़ बहुत दिनों तक दुःखी ही रहा। अल्लाउद्दीन भी इस पराजय से कई वर्षों तक हतोत्साह ही रहा।

युद्ध से लौट कर वीर-बालक बादल दुःखित मन से अपनी चाची के पास पहुंचा। उसे अकेला आता देख तथा उसके मुख पर छाई हुई उदासी को लक्ष्य कर, स्वर्गीय गोरा की धर्मपरायणा पत्नी ने कुल बातों का अन्दाज स्वयं ही लगा लिया। बादल के निकट पहुंचने तथा सिर झुका कर चुपचाप खड़े होने पर वह अपने आप बोल उठी,—"पुत्र! मैं सब जान गई हूँ, तुम केवल यह बताओ कि मेरे प्राणनाथ ने युद्ध में किस प्रकार लड़ कर वीर गति पाई है? अन्तिम समय की यदि कोई मेरे लिये आज्ञा हो तो उसे भी बता दो! देर न करो बेटा, मुझे उनके पास पहुं-चने में विलम्ब हो रहा है।" बादल ने मुँह सुखा कर उत्तर दिया,—"मां, चाचा जी की वीरता का वर्णन तो हजार मुख से भी नहीं किया जा सकता! उनके बल और पराक्रम ने ही आज शिशोदिय-कुल के गौरव की रक्षा की है। उन्हीं की वीरता ने

आज महारानी पद्मिनी और अनेकानेक क्षत्रिय महिलाओं का चरित्र उज्ज्वल रखा है। वे आज संसार के सामने अपना कर्त्तव्य पालन करते हुए रण-शय्या के ऊपर शत्रु कुल के मृत-सैनिकों का बिछौना बिछा कर अनन्त-निद्रा में मग्न होगये। उनके तकिये की जगह एक यवन राजकुमार का शव है।" वीरवर गोरा की विधवा पत्नि ने अनेक बार उस बालक के मुँह से यह सब बातें प्रेमपूर्वक सुनीं और अन्त में प्रज्वलित चिता में अपने स्थूल शरीर को भस्म कर प्राण प्रिय पति देव से जा मिलीं।

इस युद्ध में अलाउद्दीन पराजित होकर लौट तो गया, परन्तु उसके हृदय में एक शूल ऐसा चुभ गया कि जो शान्ति से उसे बैठने न देता था। सन् १२९० ई० में वह फिर एक विशाल सेना को सजा कर चित्तौड़ पर चढ़ आया। इस बार दक्षिण ओर के पहाड़ों को घेर कर बहुत दूर तक उसने घेरा डाला। वह स्थान अब भी 'अलाउद्दीन की खाई' के नाम से प्रसिद्ध है। यवनों की शक्तिशालिनी सेना को देखकर महाराणा लक्ष्मणसिंह कुछ चिन्तित हो उठे। परन्तु यह चिन्ता उनकी निर्मूल थी। भला मेवाड़ की वीर-प्रसविनी पवित्र भूमि में क्षत्रिय-वीरों की क्या कमी थी। रणभेरी बजने की देर थी कि स्वतन्त्रता के उपासक मेवाड़ी-राजपूत सरदार व सामन्तगण अपनी-अपनी सेना सजा कर चारों ओर से चित्तौड़ में आ-आकर जमा होने लगे। युद्ध आरम्भ हुआ और दोनों ओर की सेनायें बढ़-बढ़ कर एक दूसरे पर हाथ साफ करने लगीं। देश-प्रेम और स्वाधीनता का

मोहिनी मन्त्र जानने वाले क्षत्रिय-वीरों ने डट कर शत्रु का मुकाबला किया, किन्तु इस बार यवन भी युद्ध स्थल में अपने प्राणों की बाजी लगा कर आये थे। पिछली बार के युद्ध में बुरी तरह से परास्त होने के कारण, उनके हृदय में प्रतिहिंसा की ज्वाला पूर्ण वेग से धकधका रही थी और इसीलिये वे लोग इस बार सिर पर कफन बांध कर रण स्थल में कूद पड़े थे।

दिन प्रति दिन युद्ध बड़ा विकट रूप धारण करता जारहा था। दोनों पक्ष के वीर-लड़ाके कट-कट कर भूमि पर ढेर होते जा रहे थे, फिर भी किसी के हारने जीतने का अनुमान लगाना कठिन था। उन्हीं दिनों रात के समय दिन भर के कठोर परिश्रम के बाद, जब कि महाराणा लक्ष्मणसिंह अपनी शय्या पर लेटे हुए आराम कर रहे थे, युद्ध के विषय में नाना प्रकार की चिन्ताओं ने आकर महाराणा जी को घेर लिया। रात प्रायः आधी से कुछ अधिक व्यतीत हो चुकी थी, चारों ओर घोर निःस्तब्धता का अटल साम्राज्य था दूर कभी कोई पक्षी वृक्ष की डाल पर बैठा हुआ प्रगाढ़-निद्रा से जागकर अपने डैनों को फड़फड़ा उठता। ठीक ऐसे ही समय, जब कि सारा संसार निद्रादेवी के प्रगाढ़ आलिङ्गन में लिपटा हुआ स्वप्नलोक के मधुर-मनमोहक वातावरण का आनन्द लूट रहा था—हमारे चित्तोड़-नरेश महाराणा लक्ष्मणसिंह यवनों पर विजय प्राप्त करने के लिये अनेक प्रकार के यत्नों और उपायों को ढूंढ निकालने में व्यस्त हो रहे थे। आज निद्रादेवी उनसे कोसों दूर भाग गई थी और उसके स्थान पर

उसकी सौत चिन्तादेवी ने पूर्णरूपेण अपना प्रभाव जमा लिया था। पिछले युद्ध में वीर सेनानायक गोरा जैसे स्वामिभक्त सच्चे राजपूत को खोकर महाराणा जी को बहुत दुःख हुआ था। उस स्वर्गीय देशभक्त की क्षति-पूर्ति अभी तक भी नहीं हो सकी थी। यद्यपि मेवाड़ की पवित्र भूमि पर क्षत्रिय-वीरों का अभाव कभी भी नहीं हुआ, तो भी वहां की देशभक्त जनता में नवजीवन फूंकने और यवनों का डट कर मुकाबला करने के लिये उन्हें एक नये ढंग से उत्साहित करना परम आवश्यक था। इसके लिये महाराणा आत्मत्याग का एक ज्वलन्त उदाहरण पेश करना चाहते थे। उन्होंने सोचा, यदि इस विपत्ति के समय ऐसा न किया गया तो मेवाड़ का राज्य शिशोदिय-वंशधरों के हाथ से निकल जाने का भय है।

मेवाड़ की वर्तमान स्थिति पर भली प्रकार चिन्तन करने के पश्चात् महाराणा लक्ष्मणसिंह जी ने अपने सामन्तों और सरदारों को बुला कर कहा,—"मेवाड़ के वीर सरदारो! आज मेवाड़ के ऊपर विपत्ति की जो घनघोर घटाएँ छागई हैं, उसे नगर का बच्चा-बच्चा भली भांति जानता है। ऐसे समय मेवाड़-निवासियों का क्या कर्त्तव्य है, यह बताने का विषय नहीं! मेवाड़ की पवित्र भूमि सदा से क्षत्रिय-वीरों को जन्म देने वाली प्रसिद्ध है। स्वदेशानुरागी राजपूत वीर अपने गौरव, कुल-मर्यादा और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये हंसते हुये अपने प्राणों की भेंट करना भली प्रकार सीखे हैं। जब-जब हमारी मातृभूमि पर ऐसे संकट आकर

उपस्थित हुए हैं, तब-तब मेवाड़ के वीर राजपूतों ने आगे बढ़कर सबसे पहले अपने प्राणों की आहुति दी है। आज मेवाड़ की अधिष्ठात्री देवी पुनः अपनी वीर सन्तान का आह्वान कर रही है और मैं चाहता हूँ कि इस कठोर परीक्षा के समय सर्व प्रथम बारह राजकुमारों में से ग्यारह राजकुमारों का बलिदान होजाये। वंश-रक्षा के लिये एक राजकुमार का बचे रहना परम आवश्यक है। राजकुमारों के बलिदान से यदि मेवाड़ की पवित्र भूमि, शत्रुओं के लोहपाश से मुक्त हो सकी तो मैं इसे देश हित के लिये परम सौभाग्य समझूंगा। मुझे पूर्ण आशा है, राजकुमारों का यह बलिदान व्यर्थ नहीं जायेगा। सारे मेवाड़ में नवजीवन का संचार होकर चारों ओर देश प्रेम की लहर उमड़ पड़ेगी और शत्रुओं का मुख मोड़ने के लिये देश का बच्चा-बच्चा इस स्वाधीनता-संग्राम में कूद पड़ेगा। रणचण्डी की रक्त-पिपासा बुझाने के लिये हमें अब तैयार हो जाना चाहिये।"

महाराणा का दृढ़ संकल्प सुनते ही उपस्थित सरदारों ने आश्चर्य-चकित हो दांतों तले अंगुली दबाली, किन्तु राजाज्ञा के आगे किसी को एक शब्द भी मुख से कहने का साहस न हुआ। दूसरे दिन से उस कठोर व्रत का अनुष्ठान शुरू हो गया। महारानी बुलाई गई और मेवाड़ की स्वाधीनता के लिये अपने प्राणप्यारे पुत्रों का बलिदान सहर्ष उन्होंने स्वीकार कर लिया। महारानी जी के बारह पुत्रों में इस बात को लेकर तर्क-वितर्क होने लगा कि स्वतंत्रता की वेदी पर बलिदान होने के लिए सबसे पहले किसे

गौरव प्राप्त होगा । सर्व प्रथम युवराज अरिसिंह का राज्याभिषेक हुआ और महाराणी जी ने शृंगार कर मङ्गल-द्रव्य हाथों में लेकर अपने पुत्रकी आरती उतारी । चारों ओर मङ्गलगान होने लगा और वहीं सब रीति-रिवाज पूरे किये, जो एक राणा के सिंहासन पर बैठने के समय किये जाते हैं । तीन दिन तक यथोचित राज्य की सब प्रथायें पूर्ण की गई और चौथे दिन सेना सहित रणस्थल में जाकर बड़ी वीरता से लड़ते हुये उन्होंने वीर गति प्राप्त की । दूसरे दिन उनके छोटे भाई अजयसिंह की बारी आई, किन्तु उनकी इच्छा के विरुद्ध वंश रक्षा के ख्याल से उन्हें कैलवाड़ा के दुर्ग में पहुँचा दिया गया । राजकुमार अजयसिंह की उत्कट अभि-लाषा थी कि वे भी अपने भाई के समान युद्धस्थल में लड़ते हुये वीर गति को प्राप्त हों, परन्तु महाराणा जी की इच्छा के विरुद्ध वे कुछ भी न कर सके । तदोपरांत उनसे छोटे राजकुमार को गद्दी पर बैठाया गया और वे भी उसी प्रकार लड़ते हुए वीर गति को प्राप्त हुए । उनके बाद क्रमशः उनके नौ भाइयों को भी पहले की तरह राज्याभिषेक करके युद्धस्थल को भेज दिया गया और वे सभी अन्य राजकुमारोंके समान देश, धर्म; जाति और कुल-मर्यादा की रक्षा के लिए शत्रु के साथ लड़ते हुए स्वर्ग सिधार गये ।

अहो ! यह कैसा विचित्र, कितना उच्च और कितना पवित्र व्रत था, जो मेवाड़ की वीर-माताओं के भाग्य में ही था और किसी के भाग्य में नहीं । क्या मेवाड़ के अतिरिक्त संसार की अन्य जातियें भी इस कठोरतम व्रत की तुलना अपने इतिहास में

कर सकती हैं ? इस स्वाधीनता-संग्राम के परम-पवित्र यज्ञ में अपने ग्यारह पुत्रों की आहुति दे चुकने के बाद महाराणी जी स्वयं युद्धस्थल जाने को तैयार हो गईं। परन्तु रण में जाने के पूर्व एक और भी भयंकर-व्रत का आयोजन किया गया और वह था राजपूत-रमणियों का 'जौहर व्रत'! चित्तौड़ का पवित्रतम सती भूमि में सहस्रों चिताएं जलाई गईं और उनमें, विजयोन्मत्त शत्रुओं के अपवित्र हाथों से अपनी रक्षा करने के लिये हजारों क्षत्राणियों ने कूद कर अपने सतित्व को बचाया। महाराणी पद्मिनी के महल के पीछे एक अन्धकारपूर्ण बहुत बड़ी सुरंग थी उसी के भीतर असंख्य चितायें प्रज्वलित की गई थीं। महाराणा के युद्ध में जाने के पूर्व ही महाराणी पद्मिनी सब राजपूत-बालाओं को साथ लेकर सिर के केश खोले तथा शोक-संगीत गाती हुई अग्नि-कुण्डों में कूद पड़ी। जिस रूप-लावण्य को देख कर दुराचारी अलाउद्दीन के मन में पापवृत्ति जाग उठी थी, तथा जो रूप लावण्य उस कामांध यवन बादशाह को महाराणी जी का गुलाम बना सकता था, और जिस रूप-लावण्य से आकृष्ट होकर अलाउद्दीन ने हजारों सैनिकों का खून बहाया था—वही निर्दोष रूप-लावण्य, वही आकर्षक सौन्दर्य कुल-मर्यादा की रक्षा के लिए धधकती हुई आग में प्रविष्ट हो उसी के अनुरूप बन गया। धन्य हो महासती पद्मिनी, तुम धन्य हो !

हिन्दुओं के साथ अलाउद्दीन का व्यवहार बड़ा कठोर और निर्दयता पूर्ण था उसका यह सिद्धान्त था कि जब तक हिन्दुओं

को बिलकुल चूसकर गरीब और असहाय नहीं बना दिया जायेगा, तब तक उनमें अतीत-गौरव का विचार नष्ट न हो सकेगा और वे स्वाधीनता के लिये सदा लड़ते ही रहेंगे। इसी लिए उसने हिन्दू मात्र पर भारी कर लगा दिये थे। खेतों में से अन्न की उपज का आधा भाग कर स्वरूप वह स्वयं ले लेता था। इसके अतिरिक्त हिन्दुओं के मकानों और पशुओं पर भी उसने टैक्स लगा दिये थे। इन सब टैक्सों द्वारा हिन्दुओं के शोषण करने का परिणाम यह हुआ कि हिन्दू पहले से बहुत गरीब और शक्तिहीन हो गये, जिससे अलाउद्दीन को अपना साम्राज्य बढ़ाने और भारत पर शासन करने में बहुत सुविधा हुई। उस दुराचारी ने न केवल महारानी पद्मिनी को ही प्राप्त करने की इच्छा से इस बार चित्तौड़ पर चढ़ाई की थी, बल्कि वह चित्तौड़ को भी लेना चाहता था।

राजपूत-रमणियों के 'जौहर-व्रत' पालन करने के पश्चात् जब महाराणा लक्ष्मणसिंह स्त्रियों की ओर से निश्चिन्त हो गये तो अपने बचे हुए सरदारों को लेकर किले का दरवाजा खोल वे बाहर निकले और एक बारगी ही अपने शत्रुओं के ऊपर टूट पड़े। बड़ी देर तक दोनों ओर की सेनाओं में घमासान युद्ध हुआ। केसरिया वस्त्र धारण किये हुए राजपूत-वीरों ने हजारों यवन-सैनिक मौत के घाट उतार दिये। महाराणा लक्ष्मणसिंह ने इस युद्ध में ऐसी वीरता दिखाई कि जिसका वर्णन उस समय के भट्ट और कवि भी नहीं कर सके। भयानक युद्ध के बाद, अन्त में महाराणा लक्ष्मणसिंह जी भी अपने सरदारों सहित वीरगति

को प्राप्त हुए। एक एक राजपूत अपने देश, जाति और कुल गौरव की रक्षा के लिए शत्रुओं के साथ लड़कर स्वाधीनता की वेदी पर बलिदान हो गया। धन्य हो, मेवाड़ के राजपूतो, तुम्हारी कीर्ति दुनियाँ में सदा अमर रहेगी !

मैदान साफ देख कर अलाउद्दीन खुशी खुशी पद्मिनी को पाने की इच्छा से किले के भीतर गया, पर वहाँ अब क्या रक्खा था ? प्रज्वलित चिताओं के दहकते हुए अंगारों के अतिरिक्त उस दुराचारी को वहाँ और कुछ भी दिखाई न दिया। निराश होकर दुःखित मन से वह किले के बाहर निकल आया और झालोर के सोनगढ़ वंशीय सरदार मालवे को चित्तौड़ का शासक बना कर वह अपनी राजधानी दिल्ली को लौट गया। वीर क्षत्राणियों के 'जौहर व्रत' ने उसकी समस्त इच्छाओं पर तुषारापात कर दिया।

यह चित्तौड़ का पहला 'साका' था। साका का अर्थ सर्व नाश माना जाता था। मेवाड़ के इतिहास में साढ़े तीन 'साका' माने जाते हैं। आधा 'साका', महाराणी पद्मिनी जी की रक्षा के लिये जब पाँच हजार चुने हुए वीरों की प्राणाहुति दी गई थी उसे माना जाता है। मेवाड़ी राजपूत 'चित्तौड़ के साका का पाप' कह कर शपथ ग्रहण करते थे।

अलाउद्दीन दिल्ली जाने के पूर्व पद्मिनी के महल को छोड़ शेष तमाम महलों का विध्वंस करा गया था। अपने हृदय की ज्वाला उसने इसी प्रकार शान्त की। धोबी से पार न बसाई तो गधे के ही कान एँठ दिये।

पंचम-परिच्छेद

महाराणा अजयसिंह व हमीर

चित्तौड़ के प्रथम 'साका' के उपरान्त राणा-वंश में पितरों का तर्पण करने के लिये केवल अजयसिंह ही रह गये थे, जिन्हें अलाउद्दीन के साथ लड़ते समय महाराणा लक्ष्मणसिंह ने कुछ सरदारों के साथ कैलवाड़ा भेज दिया था। यवनों के साथ लड़कर उनके ग्यारह भाइयों ने स्वाधीनता-संग्राम में वीरगति प्राप्त की थी, अतः अब अजयसिंह ही एकमात्र मेवाड़ के राज-सिंहासन के उत्तराधिकारी रह गये थे। कैलवाड़े में रहते हुये भी राजकुमार अजयसिंह को सदा इसी बात की चिन्ता बनी रहती कि उनके पूर्वजों की लाला भूमि मेवाड़ पर अब यवनों का शासन था और चित्तौड़ के पवित्र सिंहासन पर एक ऐसा हिन्दू बैठा हुआ था जिसे यदि अलाउद्दीन का दास कहा जाये तो कोई अनुचित न होगा। चित्तौड़ से विदा करते समय महाराणा लक्ष्मणसिंह ने अजयसिंह जी से कह दिया था कि तुम्हारे बाद राज्य का उत्तराधिकारी, तुम्हारे बड़े भाई युवराज अरिसिंह का पुत्र हमीर होगा। यह बात अपने स्वर्गीय पिता जी की उन्होंने अब भी गांठ बांध रखी थी और इसीलिये युद्ध समाप्त होते ही उन्होंने अपने भतीजे हमीर की बहुत खोज कराई, पर वे कहीं मिले नहीं।

महाराणा अजयसिंह के दो पुत्र थे, जिनमें से बड़े पुत्र का नाम अजीतसिंह और छोटे का नाम सुजनसिंह था महाराणा अजयसिंह अपने इन दोनों पुत्रों से सदा असन्तुष्ट रहा करते थे। महाराणा-वंश के राजकुमारों में जो गुण होने चाहिए थे, उनका इन दोनों में एक प्रकार से अभाव ही था। अजयसिंह जी उन दिनों जिन पहाड़ी-प्रदेशों में रहते थे, उसके पास के स्थानों का शासक एक भील-सरदार था। उस सरदार का नाम मुंज था। वह कई बार महाराणा के साथ लड़ाई लड़ चुका था और इसीलिये महाराणा उसे अपना परम शत्रु समझा करते थे संयोगवश कुछ दिनों के बाद महाराणा जी को अपने भतीजे हमीर का भी पता चल गया। कुमार हमीरसिंह उन दिनों अपने मामा के पास रहा करते थे, जो अपने चाचा महाराणा अजयसिंह के बुलाते ही उनके पास चले आये। उन्होंने आते ही अपने चाचा अजयसिंह जी से भील सरदार पर चढ़ाई करने की आज्ञा मांगी जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। चलते समय राजकुमार हमीरसिंह ने महाराणा के चरण छूकर यह प्रतिज्ञा की कि यदि शत्रु का सिर काट कर न ला सका तो आजीवन आपको मुख न दिखाऊँगा।

कुछ दिनों बाद राजकुमार हमीर लौट कर अपने चाचा के पास आ गये; किन्तु वे खाली हाथ लौट कर नहीं आये थे। उनके भाले की नोक पर भील-सरदार मुंज का कटा सिर लटका हुआ था, जिसे उन्होंने महाराणा जी के चरणों में डाल कर आदरः

अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया। महाराणा अजयसिंह इस भेंट से परम सन्तुष्ट हुए और उन्होंने उठ कर राजकुमा हमीर को हृदय से लगा लिया। महाराणा को यह दृढ़ निश्चय हो गया कि मेवाड़ का उद्धार हमीर ही करेगा। तुरन्त भील सरदार के कटे हुए सिर से ताजा रुधिर लेकर उन्होंने राजकुमार का तिलक कर दिया। इस कार्यवाही के समय महाराणा के दोनों पुत्र राजकुमार अजीत-सिंह और सुजनसिंह भी वहीं खड़े थे। उन्हें अपने पिता के इस कार्य पर बड़ा खेद हुआ और मेवाड़ की गद्दी पर बैठने की आशा उनके हृदय से दूर होगई। बड़े पुत्र अजीतसिंह तो इस धक्के को सम्भाल ही न सके, कुछ दिनों बाद शोक ही शोक में वे परलोकगामी हो गये और छोटे पुत्र सुजनसिंह विरक्त हो, अपने पिता की आज्ञा लेकर दक्षिण की ओर चले गए, जहां उनके वंश में छत्रपति शिवा जी का जन्म हुआ।

सन् १३०१ ई० में महाराणा अजयसिंह की मृत्यु के बाद राजकुमार हमीरसिंह को महाराणा की उपाधि से शोभित किया गया। वे वीर शिरोमणी स्वर्गीय अमरसिंह जी के ही वीर-पुत्र नहीं थे, बल्कि उनकी वीर माता भी क्षत्रिय-कुल की एक वीराङ्गना ही थी उनके विवाह की बात इस प्रकार बताई जाती है कि एकबार राज-कुमार अरिसिंह अपने कुछ सरदारों को लेकर बन में शिकार खेलने गए और वहां एक बनैले शूकर के पीछे उन्होंने अपना घोड़ा छोड़ा। घोड़े को पीछे आता देख कर शूकर भय से एक जुआर के खेत में घुस गया। शिकार हाथ से जाता देख कर

अरिसिंह को बड़ी निराशा हुई। खेत में एक मचान पर वहाँ की देख-भाल करने के लिए एक राजपूत-कन्या बैठी हुई यह सब देख रही थी। उसे राजकुमार अरिसिंह का सूखा हुआ मुख देख कर बड़ी दया आगई और उसने उन्हें निराश न होने को कहा। इसके बाद बड़ी फुर्तीसे उसने जुआरके एक पेड़को उखाड़कर जल्दी-जल्दी एक सिरे को छील कर नोकदार बनाया और मंच पर बैठे-बैठे ही ऐसा निशाना ताक कर मारा कि वह सुअर उसी जगह मर कर ढेर हो गया। अरिसिंह उस तरुणी की वीरता पर मुग्ध होकर स्तब्ध खड़े रह गये। कुछ देर बाद वहां से चल कर वे एक नदी के किनारे ठहर गए। इतने में एक ढेला दूर से आकर उनके घोड़े की टांग में ऐसा लगा कि वह घोड़ा नीचे गिरकर दर्दसे हिन हिना लगा। पता लगाने से ज्ञात हुआ कि वही वीर-बालिका ढेले मार कर पशुओं से अपने खेत की रक्षा कर रही है। कन्या ने घोड़े को मारने के कारण उनसे क्षमा मांगी। तभी से वह राजकुमार अरिसिंह की स्नेहभाजन बन गई।

इतना ही नहीं, उस राजपूत-बाला की ओर कुमार के आकृष्ट होने की एक बात और भी उसी जगह हुई। शिकार खेल कर महलों को लौटते समय मार्ग में वही कन्या उन्हें फिर मिली। वह स्वयं भी इस समय अपने गांव की ओर लौट कर वापिस जा रही थी। उसके सिर पर एक बड़ा दूध का भरा हुआ बर्तन रखा था और एक साथ दो भैंसों को हाँकती हुई अपने पथ पर चली जा रही थी, किन्तु राजकुमार अरिसिंह के एक मित्र ने

उसे देखते ही हँसी-हँसी में अपना घोड़ा उसकी ओर बढ़ा दिया। यह बात उस वीर बालिका की शान के विरुद्ध हुई थी और इसी लिए शायद उसने क्रुद्ध होकर अपनी भैंस को उस घोड़े की टाँगों से इस प्रकार अड़ाया कि वह सवार धम्म से नीचे गिर पड़ा। राजकुमार अपने अन्य साथियों सहित खिलखिला कर हंस पड़े और उस सवार को लज्जित होना पड़ा। घर पहुँचते ही राजकुमार ने उस वीर-बालिका की खोज में अपने दूत भेजे। पता लगने पर उन्होंने उसके पिता से अपने साथ उस लड़की के विवाह का प्रस्ताव किया, पर न जाने क्यों वह राजपूत अस्वीकार करके अपने घर लौट गया। बाद में अपनी स्त्री की फटकार सुनकर उसकी बुद्धि ठिकाने लगी और उसने अपनी कन्या का विवाह राजकुमार के साथ कर दिया।

राजकुमार हमीर उन्हीं वीर माता-पिता की सन्तान थे। यद्यपि इनका जन्म चित्तौड़ में ही हुआ था, पर किसी कारण विशेष से अपनी माता के साथ वे अपने मामा के यहां अधिक रहा करते थे। अलाउद्दीन के साथ युद्ध के समय उनकी मां तो चित्तौड़ चली आईं, किन्तु वे फिर अपने मामा के पास ही रह गये। महाराणा बनते ही उन्हें अपने कर्त्तव्य का स्मरण हो आया और वे दिन-रात चित्तौड़ के उद्धार की ही बातें सोचने लगे। सर्वप्रथम उन्होंने मेवाड़ की बिखरी हुई शक्ति को संगठित करने का संकल्प किया। समस्त मेवाड़ में उन्होंने इस बात की सूचना दे दी कि जो लोग महाराणा हमीर को अपना स्वामी मानते हों, वे अपने

अपने निवास स्थानों को त्याग कर पूर्व और पश्चिम की पर्वत मालाओं में सपरिवार आ बसें। इस आज्ञा का उल्लंघन करने वाले महाराणा के शत्रु समझे जायेंगे। महाराणा कुल की शुभ चिन्तक-प्रजा आज्ञा पाते ही कैलवाड़ा में जा-जा कर बसने लगी और थोड़े दिनों में ही वहां की जन संख्या इतनी बढ़ गई कि महाराणा को वहां दुर्ग भी बनवाने पड़े। केवल प्राचीरों से घिरे हुए नगरों को छोड़ कर मेवाड़ के और सभी नगर महाराणा की आज्ञा से नष्ट भ्रष्ट कर दिये गये। चित्तौड़ का यवन प्रतिनिधि सरदार मालदेव महाराणा हमीर के बढ़ते हुए पराक्रमों को देख कर एकबारगी ही घबरा उठा और वह उन्हें अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न करने लगा।

महाराणा हमीर को सन्तुष्ट करने के लिये चतुर मालदेव ने एक युक्ति ढूँढ़ ही निकाली। उसने अपनी पुत्री को महाराणा के साथ ब्याह देने का विचार किया और एक ब्राहमण व नाई के द्वारा सगाई का नारियल महाराणा की सेवा में भेज दिया। अपने मन्त्रियों की इच्छा के विरुद्ध भी महाराणा हमीर ने उस कपट के नारियल को स्वीकार कर लिया और परस्पर यह शर्त तय हुई कि बारात के साथ पाँच सौ से अधिक सवार न लाये जावें। निश्चित समय पर महाराणा पांच सौ सवारों को लेकर चित्तौड़ चल दिये। उन्हें इस विवाह के बहाने अपने पूर्वजों की लीला भूमि देखने की उत्कट अभिलाषा थी। चलते समय वे प्रतिज्ञा करते गये कि या तो जैसे भी होगा अपने पूर्व-पुरुषों की राजधानी

का शत्रुओं के चंगुल से उद्धार करूँगा, या फिर उसी पवित्र भूमि की गोद में अपने प्राण को भी न्योछावर कर दूंगा। चित्तौड़ पहुँच कर सिंहद्वार पर उन्होंने तोरण या बन्दनवार आदि एक भी मङ्गल-चिह्न ऐसा नहीं देखा कि जिससे विवाह होने का लक्षण प्रतीत हो। यह सब देखकर बारातियों को बड़ा आश्चर्य हुआ, किन्तु महाराणा ने उस समय कुछ बोलना उचित न समझा और वे चुपचाप बारातियों को लिये हुए किले के भीतर चले गये। प्रत्येक बाराती के मन में एक द्विधा सी पैदा होगई थी।

विवाह निर्विघ्न समाप्त हो गया परन्तु न जाने क्यों मङ्गल गान आदि जरा भी किसी ने गाकर नहीं सुनाये और न विवाहोत्सव में स्त्रियों की ही अधिक संख्या दिखाई दी। जान पड़ता था जैसे यह कोई विवाह नहीं बल्कि गुप्त षडयन्त्र रचा जा रहा था। महाराणा हमीर बड़े धैर्य और शान्ति के साथ कुल बातें देखते और हृदय पट पर उतारते जा रहे थे। आखिर को सुहाग रात्रि मनाने के लिये महाराणा महल में पहुँचे। कमरे में पदार्पण करते ही महाराणा महल में पहुँचे। कमरे में पदार्पण करते ही महाराणा को यह देखकर महान् आश्चर्य हुआ कि नववधु एक कोने में बैठी हुई बिलख-बिलख कर रो रही थी। महाराणा हमीर यह दृश्य देख कर स्तब्ध खड़े रह गये, पर आखिर यह सब कितनी देर तक चल सकता था? उन्होंने आगे बढ़ कर बड़ी नम्रता से इसका कारण पूछा। बालिका ने हाथ जोड़ कर उनके चरणों का स्पर्श करते हुए कहा,—"महाराज, आप शायद मेरी

बात को सुन कर क्रोध से उन्मत्त हो जायेंगे, पर मैं आपको अन्धकार में नहीं रखना चाहती। मेरी बात सुन कर चाहे आप मुझे मार ही डालें, पर जो सत्य है उसे मैं आपको जरूर बताऊँगी। मेरे पिता ने गुप्त रीति से आपके साथ मेरा विवाह किया है और इसका कारण यही है कि मैं बाल-विधवा हूँ। जब मैं छोटी थी, तभी एक राजकुमार के साथ···!"

"क्या कहा, तुम एक विधवा हो ?" हठात् एक पग पीछे उछल कर महाराणा हमीर रोषपूर्ण शब्दों में चिल्ला उठे। मालदेव द्वारा किये गये अपमान से उनका सारा शरीर एक बारगी ही झुलस उठा। और आँखों से चिनगारियां निकलने लगीं।

"शांति करें महाराज, उत्तेजित न हों!" विनम्र शब्दों में उत्तर देते हुये नव-बधु ने कहा,—"विधवा होने पर भी मैं सर्वथा निर्दोष हूँ महाराज! बहुत ही छोटी अवस्था में मेरा विवाह हुआ था, परन्तु मुख दर्शन करने के पूर्व ही उनकी मृत्यु हो गई और मैं उन्हें देख भी न सकी कि वे कैसे थे। बाल-विधवा होने के कारण ही पिता जी ने इतना छिपा कर यह विवाह किया है, पर इसमें मेरा कुछ भी दोष नहीं। आप मुझे दासी जानकर घृणा न, करें, नहीं तो संसार में मेरा कोई भी·········"

और यह कहते न कहते ही वह निर्दोष बालिका फफक-फफक कर रो उठी। महाराणा जी का हृदय इस समय यद्यपि अपमान की ज्वाला से भीतर ही भीतर सुलग रहा था, तथापि एक अबला के अश्रु-जल ने उनका सारा क्रोध शांत कर दिया और उन्होंने

पत्निरूप में उसे ग्रहण करते हुए यह प्रतिज्ञा कराई कि चित्तौड़ का उद्धार करने में वह पूरी-पूरी उनकी सहायता करेगी। नव-वधु ने अपने पतिदेव की इच्छानुसार प्रतिज्ञा करते हुये उन्हें बताया कि वे दहेज के रूप में रण कुशल जलधर को उसके पिता से मांग लें। दूसरे दिन महाराणा ने ऐसा ही किया और कैलवाड़े लौट आये।

ठीक समय पर मालदेव की पुत्री से एक पुत्र रत्न की उत्पत्ति हुई। लड़के का नाम चेत्रसिंह रखा गया। कुछ दिनों बाद चेत्रसिंह पर चित्तौड़ के देवी-देवताओं के कोप की धूम मचाई मचाई गई। मालदेव के पास सूचना दी गई कि लड़के की रक्षा के लिए चित्तौड़ के देवताओं को 'जात' देनी होगी। मालदेव ने कुछ सरदारों को भेजकर अपनी कन्या और नाती को चित्तौड़ बुला लिया वहाँ रहते रहते चेत्रसिंह की माता ने जलधर की सहायता से चित्तौड़ के प्रमुख सरदारों को अपने पक्ष में कर लिया। उधर मालदेव को उन्हीं दिनों अपने कुछ चुने हुए सरदारों को लेकर मदेरिया की ओर जाना पड़ा। यही अवसर महाराणा हमीर के लिए चित्तौड़ आगमन के लिये उपयुक्त था। सूचना पाते ही महाराणा हमीर ने कैलवाड़े से आकर चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया। चित्तौड़ निवासी महाराणा-वंश के वर्त्तमान वंशज महाराणा हमीर का पुनः चितौड़ पर अधिकार हुआ देखकर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने सहर्ष उनकी अधीनता स्वीकार करली। महाराणा को अपनी पितृभूमि पाकर जितनी खुशी हुई, उसे वर्णन करना सरल काम

नहीं। पहले से दुगना उत्साह उनमें भर गया।

शत्रु पर विजय प्राप्त कर जब मालदेव वापस लौटा तो चित्तौड़ पहुँच कर उसकी बुद्धि ठिकाने न रही। निरुपाय होकर उसने दिल्ली की ओर प्रस्थान किया और अलाउद्दीन के उत्तराधिकारी से महाराणा हमीर की शिकायत की। सुल्तान यह सुन कर बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने महाराणा हमीर के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी। एक बड़ी सेना का साथ लेकर सुल्तान मालदेव की सहायता के लिए चित्तौड़ की ओर रवाना हुआ, किन्तु इसबार पहाड़ी-मार्गों से आने के कारण उसकी सेना के बहुत से सिपाही पानी न मिलने से तड़प-तड़प कर मर गए। महाराणा हमीर पहले ही से सावधान थे और उन्होंने बादशाह की फौज का मुकाबला करने के लिये चित्तौड़ में पूरी तैयारियें कर ली थीं। महाराणा का अधिकार होते ही चित्तौड़ के पुराने सामन्तगण भी चित्तौड़में वापस आगए थे। उन सबकी सहायता से एक शक्तिशाली सेना बनाई गई और महाराणा ने उस सेना की बागडोर अपने हाथ में संभाल कर सिंगोली के संकीर्ण मैदान में सुल्तान की फौज पर आक्रमण किया। घोर युद्ध हुआ और महाराणा ने अपने हाथ से मालदेव के एक पुत्र हरीसिंह का संहार किया। कई दिनों के निरन्तर युद्ध के बाद महाराणा हमीर की सेना ने शत्रु पर विजय प्राप्त की और बादशाह कैद कर लिया गया। तीन महीने तक चित्तौड़ के कारागार में रहने के बाद वह क्षमा मांगने पर छोड़ दिया गया, किन्तु दण्डस्वरूप उसे अजयमेरु, (अजमेर)

रणथंभोर, शिवपुर, नागोर तथा पचास लाख रुपये और एक सौ हाथी महाराणा जी की भेंट करने पड़े। विदायी के समय महाराणा ने उसे यह चेतावनी दी कि आप यह न समझना कि दिल्ली के बादशाह होने के कारण आपको छोड़ा गया है, बल्कि क्षत्रियों के स्वाभाविक गुण दया और क्षमा के कारण ही आप छोड़े गये हैं। आप जैसे शत्रुओं का सामना करने के लिये मेरी तलवार सदा म्यान के बाहर रहेगी। यदि जरा भी दिल में लज्जा है तो फिर कभी इधर को मुँह नहीं करना। सुल्तान निरुत्तर हो अपना-सा मुँह लेकर चुपचाप दिल्ली चला गया और जब तक जीवित रहा, फिर कभी भी उसने चित्तौड़ पर चढ़ाई नहीं की।

मालदेव ने अपना सारा परिश्रम निष्फल होते देख कर महाराणा की आधीनता स्वीकार कर ली। महाराणा जी ने भी मालदेव के बड़े पुत्र बनवीर को निर्वाह के लिए कई स्थान देते हुए कहा कि एक दिन आप लोग तुर्कों के दास थे, किन्तु अब स्वधर्मी हिन्दुओं के भाई हो। इस राज्य के खो जाने का आप लोगों को दुःख अवश्य होगा, पर जरा विचार कर तो देखो चित्तौड़ वास्तव में किसका था। जिस मेवाड़ भूमि को मेरे पूर्व-पुरुषों ने अपने रुधिर से सींच कर इतना उन्नत किया था, उसे यदि मैंने अपने बाहुबल से पुनः प्राप्त कर लिया तो किसी को दुःखित नहीं होना चाहिए। बनवीर को अपने बहनोई के उचित-वाक्य सुन कर बहुत सन्तोष हुआ और सच्चे मन से उसने महाराणा की आधीनता स्वीकार कर ली। इसके बाद बनवीर ने स्वयं कई देशों को

जीतकर मेवाड़ के आधीन किया। अल्पकाल में ही सारे राजपूताने में महाराणा हमीर की दुहाई फिर गई और वे मारवाड़, जयपुर, बून्दी, चन्देरी, सीकरी, काल्पी और आबू के राजाओं के नेता माने जाने लगे।

इस युद्ध के बाद मेवाड़ में कई वर्षों तक पूर्ण शान्ति रही। यवनों को चित्तोड़ की ओर देखने का साहस भी नहीं हुआ। महाराणा हमीर ने नगरकोट और दिल्ली की सीमा तक अपनी विजय का डङ्का बजाया। कई वर्षों की शान्ति के कारण मेवाड़-निवासियों को धन-धान्य से परिपूर्ण और अत्यन्त सम्पन्न बनने का अवसर मिल गया। चित्तोड़ और मेवाड़ के अन्य स्थानों में अनेक नये महल, मन्दिर और विजयस्तम्भ बनाये गये। अपनी मातृ-भूमि को शत्रुओं के चंगुल से छुड़ाकर महाराणा हमीर अन्त में परलोक सिधार गये।

षष्ठम् परिच्छेद

चूण्ड की भीष्म-प्रतिज्ञा

सन् १३६५ ई० में महाराणा हमीर के स्वर्ग सिधारने पर उनके पुत्र युवराज क्षेत्रसिंह चित्तौड़ के सिंहासन पर बैठे। उन्होंने शीघ्र ही माण्डलगढ़, जहाजपुर, चम्पन आदि अनेक राज्यों को चित्तौड़ के आधीन कर लिया। दिल्ली के तख्त पर इस समय भी तुग़लक-वंश का अधिकार था, किन्तु मुहम्मद तुग़लक के मरते ही राज्य भर में अशान्ति और अव्यवस्था फैल गई थी और दिल्ली पर मुहम्मद तुग़लक का चचेरा भाई फीरोज-शाह अपना अधिकार जमा चुका था। वह कट्टर मुसलमान था और हिन्दुओं को 'काफिर' कह कर उनसे घृणा किया करता था। हिन्दुओं को इस्लाम का अनुयायी बनाने के लिये उसने अनेक उपाय किये और 'जजिया' कर, जो पहले ब्राह्मणों से नहीं लिया जाता था, अब प्रत्येक हिन्दू से वसूल किया जाता था। उसी के समय में बकरोल नामक स्थान पर नसीरुद्दीन तुग़लक का बेटा हुमायूं महाराणा क्षेत्रसिंह के साथ लड़ा। मेवाड़ के वीर राजपूतों ने दिल खोल कर म्लेच्छों का मुकाबला किया और हजारों मुसल्मानों को मौत के घाट उतार कर क्षत्रिय वीरों ने उन पर विजय प्राप्त की। राजपूतों की मार से मुसल्मान

अपनी जान बचा कर भागे और दिल्ली पहुंच कर ही उन्होंने दम लिया।

कुछ दिनों बाद मेवाड़ के बनोदा नामक प्रदेश के अधिकारी हाड़ावंशीय क्षत्रिय-सरदार ने अपनी पुत्री की सगाई महाराणा क्षेत्रसिंह के साथ की और उन्हें अपने यहाँ बुलाने का निमन्त्रण दिया। महाराणा क्षेत्रसिंह की हाड़ा सरदार से किसी बात में खटपट हो गई और वे पीछे से तलवार भोंक कर मार डाले गये। महाराणा की अकाल मृत्यु होने पर सन् १३८३ ई० में महाराणा लाखा चित्तौड़ की गद्दी पर बैठे।

महाराणा लाखा बलवान होने के साथ २ भाग्यशाली भी अधिक थे। उनके शासनकाल में मेवाड़ के अन्तर्गत चप्पन नामक स्थान में एक बहुत बड़ी चाँदी और टीन की खान निकली, जिससे राज्य की आय पहले से कई गुणा अधिक बढ़ गई। बदनौर का प्रसिद्ध किला भी महाराणा लाखा ने अपने समय में बनवाया था। एक बार दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह लोदी के साथ आपकी लड़ाई हुई और बदनौर के पास ही महाराणा ने उसे बुरी तरह से परास्त किया। धन-जन की हानि करा कर बादशाह अपने प्राण ले दिल्ली भाग गया। इस युद्ध के कुछ दिनों बाद ही महाराणा को सूचना मिली कि विधर्मियों ने हिन्दुओं के पवित्र तीर्थ गया पर चढ़ाई कर दी है। महाराणा तुरन्त अपनी सेना सजा कर गया के रणस्थल में जा पहुंचे। अन्य देशों के हिन्दू नरेश भी वहां आये थे, किन्तु प्रधान सेना-नायक

महाराणा लाखा को ही बनाया गया। बड़ा घोर संग्राम हुआ। यद्यपि हिन्दुओं की इस युद्ध में विजय अवश्य हुई, किन्तु महाराणा लाखा जैसे वीर सेनापति को खोकर ही पवित्र तीर्थ गया की रक्षा हुई। दुष्ट अलाउद्दीन ने चित्तौड़ के जिन महलों का ध्वंस करा दिया था, उन्हें महाराणा लाखा ने पुनः नये सिरे से ठीक करा कर और भी नये मन्दिरों और महलों को उन्होंने बनवाया था। चित्तौड़ के वीर महाराणा ही वे नहीं थे, बल्कि धार्मिक नेता भी समझे जाते थे। तीर्थ स्थान में आकर शत्रु से लड़ते-लड़ते उन्होंने वीर-गति प्राप्त की। उन्हें खोकर सभी हिन्दू-राजाओं को बहुत दुःख हुआ।

महाराणा लाखा के बड़े पुत्र का नाम चण्ड था। परन्तु अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त चित्तौड़ के सिंहासन पर वे नहीं बैठ सके। वे स्वयं प्रतिज्ञा-पाश में आबद्ध होकर अपने वास्तविक अधिकारों से च्युत हो गये। उन्होंने अपनी इच्छानुसार मेवाड़ के राजसिंहासन को त्याग कर एक वैरागी के समान राज सुखों से मुँह मोड़ कर सदा अपने जीवन को देश की सेवा करने में ही व्यतीत किया। वह दृढ़-प्रतिज्ञ राजकुमार अपनी की हुई प्रतिज्ञा के सम्मानार्थ महाराणा की उपाधि से ही वंचित नहीं हुए, बल्कि अपनी मातृभूमि को भी छोड़ने के लिये उन्हें विवश होना पड़ा।

यह बात इस प्रकार हुई कि एक बार जब कि उनके पिता स्वर्गीय महाराणा लाखा अपने सामन्तों और सरदारों को लिये हुए राजसभा में बैठे थे, उसी समय मारवाड़ के राठौर-शासक

राजा रणमल का भेजा हुआ एक दूत वहाँ आया और सगाई का नारियल राणाजी के आगे धरता हुआ बोला कि मारवाड़ के राठौर राजा अपनी कन्या का विवाह आपके बड़े पुत्र राजकुमार चण्ड से करने की इच्छा रखते हैं। चण्ड उस समय दरबार में मौजूद नहीं थे, अतः उन्हें बुलाने के लिये एक आदमी भेजा गया। तब तक महाराणा उस दूत के साथ बातें करने लगे। उपहास ही उपहास में महाराणा के मुख से निकल गया कि ऐसी खेल-सामग्री मुझ जैसे श्वेत दाढ़ी-मूछ वालों के लिये राठौर के महाराज क्यों नहीं भेजते ? उनकी बात पर सब दरबारी खिल-खिला कर हंस पड़े और सभी उस दूत के साथ परिहास करने लगे। जब थोड़ी देर बाद युवराज चण्ड ने राजसभा में पदार्पण किया और उन्होंने वे सब बातें सुनीं, तो उनके मन में यह बात उत्पन्न हुई कि जिस सम्बन्ध को उनके पिताजी ने किसी भी भाव से एक बार अपने साथ करने को कहा है, उसे वे किसी तरह भी स्वीकार नहीं करेंगे। ऐसी धारणा होते ही महाराणा जी के पूछने पर उन्होंने वह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। महाराणा के साथ साथ अन्य सभासदों ने भी उन्हें समझाने-बुझाने की बहुत कोशिश की, पर कोई भी उन्हें उनके दृढ़-संकल्प से डिगाने में समर्थ न हो सका।

इस घटना से महाराणा जी को बड़ी चिंता हुई। एक ओर युवराज अपनी जिद पर अड़े बैठे थे और दूसरी ओर विवाह प्रस्ताव ठुकराने पर मारवाड़-नरेश का घोर अपमान उनके सम्मुख

था। बड़ी विकट समस्या थी, एक भी हल उनकी समझ में नहीं आ रहा था। महाराणा जी चण्ड पर बहुत रुष्ट भी हुए, किन्तु वे अपने दृढ़ संकल्प से एक इंच भी इधर से उधर न हुए। अन्त में उस नारियल को महाराणा जी ने अपने लिये ही ग्रहण करते हुए कहा कि जैसे भी होगा यह तिलक तो अब लौटाया नहीं जायेगा, क्योंकि ऐसा करने में मारवाड़-नरेश अपना अपमान समझेंगे। इसलिये मैं स्वयं ही इस नारियल को स्वीकार करता हूँ, परन्तु स्मरण रहे कि इस विवाह-सम्बन्ध से जो पुत्र उत्पन्न होगा, वही अब चित्तौड़ के सिंहासन का अधिकारी होगा। चण्ड अपने पिता की आज्ञा से ज़रा भी दुःखी न हुए और उन्होंने सहर्ष उनकी बात को स्वीकार कर लिया। इतना ही नहीं, उसी समय उन्होंने श्रीएकलिंगेश्वर महादेव की शपथ खाकर यह प्रतिज्ञा की कि जब तक वे जीवित रहेंगे चित्तौड़ के सिंहासन पर कभी न बैठेंगे और न ही राज्य के उत्तराधिकारी से वे किसी प्रकार का विद्वेष ही करेंगे। इस तरह अकारण ही उन्होंने एक छोटी बात के पीछे इतने बड़े राज्य का मोह त्याग दिया।

परमात्मा की लीला भी कैसी विचित्र है। कहाँ तो महाराणा युवराज चण्ड को राज्य भार सौंप कर भगवत्-चिन्तन में अपना शेष जीवन बिताने की बात सोच रहे थे और कहाँ उन्हें पचास वर्ष की आयु में बारह वर्ष की एक सुकुमारी बालिका के साथ विवाह-सूत्र में बंधने को बाध्य होना पड़ रहा था। विधि के विधान को भला कौन टाल सकता है। निश्चित समय पर विवाह-

कार्य सम्पन्न हुआ। और उसके ठीक एक वर्ष बाद राजकुमार मुकुल उत्पन्न हुए। जब मुकुल पाँच वर्ष के हुए तो गया पर विधर्मियों के आक्रमण की बात सुनी गई और महाराणा लाखा वहाँ जाने को तैयार हो गये। जाने के पूर्व महाराणा ने चण्ड को बुलाकर कहा कि मैं जिस कठोर व्रत के साधन के लिये जा रहा हूँ, उसे पूरा कर वापस लौटने की आशा बहुत कम है। यदि मैं न लौटा तो मुकुल का क्या प्रबंध होगा? तेजस्वी चण्ड अपनी की हुई भीष्म प्रतिज्ञा को अभी भी भूले नहीं थे। उन्होंने अविलम्ब उत्तर देते हुए कहा,—पिताजी, मुकुल ही चित्तौड़ की गद्दी पर बैठेंगे, मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ। मेवाड़ के भावी राणा को अन्य किसी प्रबंध की आवश्यकता नहीं। और इसके बाद ही उन्होंने पाँच वर्ष के बालक मुकुल को सिंहासन पर बैठाकर अपने हाथ से उसका तिलक कर दिया। महाराणा त्यागमूर्ति-चण्ड के इस कार्य से परम सन्तुष्ट हुए और राज्य का भार चण्ड को सौंप कर वे वहाँ से गया चले गये।

महाराणा लाखा के युद्ध में चले जाने के बाद राज्य की देख-भाल चण्ड करने लगे। महाराणा की आज्ञानुसार वे शासन-कार्य का सब प्रबंध स्वयं करते थे। यद्यपि सिंहासन पर पाँच वर्ष के बाल-महाराणा मुकुल का ही पूर्ण अधिकार था और चण्ड नाम-मात्र के शासक थे, किन्तु मन्त्रिमंडल के प्रधान होने के नाते राज्य की व्यवस्था और सुरक्षा का भार राजकुमार चण्ड के ऊपर ही था। यदि किसी सामन्त को पुरस्कार स्वरूप कुछ भूमि देनी

होती थी तो दानपत्र पर महाराणा के हस्ताक्षर के ऊपर चण्ड की तलवार का चिन्ह रहा करता था। बहुत थोड़े दिनों में ही देश की जनता उनके सुव्यवस्थित शासन-कार्य को देखकर मुक्त-कण्ठ से उनकी प्रशंसा करने लगी। परन्तु चण्ड के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर उनकी विमाता राठोर-कुमारी कुछ सशंकित हो उठीं। मुकुल की माता ने सोचा कि मुकुल को मार कर चण्ड कहीं स्वयं ही मेवाड़ के राणा न बन बैठें। इस-लिये उनकी आन्तरिक इच्छा यह रहने लगी कि मुकुल जब तक स्वयं शासन करने योग्य न हो जाये, तब तक चण्ड की जगह वे स्वयं राज्य की देखभाल करें। कुछ दिनों के बाद ही महारानी ने अपनी धारणा का प्रदर्शन लोगों में भी आरम्भ कर दिया। युवराज चण्ड से भी यह बात छिपी न रह सकी। उन्हें अपनी विमाता के तुच्छ विचारों को जान कर बड़ा दुःख हुआ। अपने प्रति ऐसी निराधार लांछना को त्यागवीर चण्ड भला कैसे सहन कर सकते थे। एक दिन उन्होंने एकान्त में राठोर-कुमारी से मिलकर कह ही डाला,—"माता जी, आपके मन में मेरे लिये जो कुधारणा उत्पन्न होगई है—यद्यपि वह निराधार होते हुए भी मैं उसका स्वागत करता हूँ और इस लिए अब मैं चित्तौड़ में एक पल भी नहीं रहना चाहता। परन्तु जाने के पूर्व मैं आपको यह बता देना चाहता हूँ कि यदि मेरे मन में मेवाड़ का राज्य करने की तनिक भी अभिलाषा होती तो आज आप राजमाता के सम्मानित पद पर न पहुँच पातीं। आपके

श्रम के लिए मुझे वास्तव में बहुत दुःख है; किन्तु दैव की इच्छा ही कुछ ऐसी है। अतः अब मैं जाता हूँ, आप शासन भार ग्रहण करें। मेरी अन्तिम इच्छा यही है कि शिशोदिया-वंश धवल कीर्ति में धव्वा न लगने पाये और यदि ऐसा कोई संकट आकर उपस्थित हो जाये तो चण्ड को न भूलियेगा!"

विमाता को प्रणाम कर त्यागमूर्ति चण्ड वहां से मन्दूर चले गये और वहां के राजा से कुछ भूमि पाकर वे उसी स्थान पर रहने लगे। इधर जब मारवाड़ के राठौरों ने वीरवर चण्ड के चले जाने की बात सुनी तो उनके हर्ष की कोई सीमा न रही। वे लोग मारवाड़ की शुष्क भूमि छोड़ कर मेवाड़ में आ बसे। सर्व प्रथम मुकुल के मामा जोधा जी ने चित्तौड़ आकर डेरा जमाया। कुछ दिनों के बाद ही जोधा जी के पिता भी अपनी सेना और नौकर चाकरों को लिये हुए चित्तौड़ आ धमके। दूसरे दिन से ही रणमल्ल का यह नियम होगया कि मुकुल को गोद में लेकर वे राजसिंहासन पर जा बैठते और समय-समय पर सामन्तों, सरदारों और अन्य कर्मचारियों को आज्ञायें दिया करते। यद्यपि नाम मुकुल का था, किन्तु शासन उनके नाना रणमल और जोधा जी ही किया करते। जब मुकुल अपने नाना की गोद से उटकर इधर उधर कहीं चले जाते तो रणमल अकेले ही राज-सिंहासन पर बैठे रहते और महाराणा के छत्र चँवर उन पर डुला करते। यह बात मेवाड़ के स्वामी भक्त सरदारों को बहुत अखरती, किन्तु राजमाता के कोप से डरकर किसी को एक शब्द

भी कहने का साहस नहीं होता। धीरे-धीरे राठोरों का प्रभाव चित्तौड़ में इतना बढ़ गया कि कोई भी कार्य उनकी इच्छा के विरुद्ध नहीं हो सकता था। मेवाड़ के वे ही एक तरह के शासक बन बैठे।

एक दिन मुकुल को खिलाने वाली दाई ने मौका देखकर राजमाता से कहा,—"आपको कुछ मालूम भी है कि आजकल आपकी राजधानी में क्या हो रहा है? राज्य की अवस्था दिन पर दिन खराब होती जारही है। यदि शीघ्रही कोई उपाय न किया गया तो सारे मेवाड़ में एक भारी विद्रोह उठ खड़ा होगा, जिसे आप अकेली दवा न सकेंगी। राठोरों का प्रभाव दिन पर दिन बढ़ता जारहा है, सारे मेवाड़ में आज उन्हीं की तूती बोल रही है जिन्हें आप अपना हितैषी समझती हैं, वे सत्ता हाथ में आते ही आपको निकाल बाहर करेंगे। आपके बाप और भाई ही आपके शत्रु बन जायेंगे याद रखिए शिशोदिया-कुल का जब तक मेवाड़ में राज्य है, तभी तक राजमाता के गौरवपूर्ण-पद पर आप सुशोभित हैं—राठोरों के हाथ में अधिकार जाते ही आप दासी भी न रहेंगी। मैं ने आपका नमक खाया है, इसीसे आपके भलाई की बात कहती हूँ। बुरा न मानिए, अब भी समय है आपत्ति आने के पूर्व ही संभल जाने से न केवल आप शिशोदिया-कुल के अपूर्व गौरव की ही रक्षा कर सकेंगी, बल्कि मेवाड़-राज्य के साथ ही साथ अपने प्राणप्यारे पुत्र महाराणा मुकुल के प्राण भी आप बचालेंगी।"

दाई की रहस्यपूर्ण बातों को सुनते ही राजमाता मानों स्वप्न से एक बारगी ही जाग पड़ी हों। उन्होंने सब बातें ध्यान पूर्वक सुनी थीं और मन ही मन उन पर विचार भी करती जारही थीं। दासी की बातों में उन्हें सत्यता की झलक ही अधिक दिखाई दी। आपत्ति से छुटकारा पाने के लिए वे उपाय सोचने लगीं, किन्तु एक भी उपाय उनकी समझ में नहीं आया। आता भी कैसे? बाहर का कोई आदमी हो तो उसे कान पकड़ कर भी निकाला जा सकता है, परन्तु घर का आदमी ही जब अपने गले पर छुरी चलाने को तयार हो तो उसका इलाज भी क्या? उन्हें अपने चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा दिखाई दिया। अन्य कोई उपाय समझ में न आने के कारण वे सीधा अपने पिता के पास पहुंची और बातों ही बातों में उनके दिल की बात जानने की उन्होंने कोशिश की। अपने पिता का उत्तर सुनते ही महाराणी को रोमांच हो आया। उन्हें निश्चय हो गया कि उनके पिता रणमल और भाई जोधा जी ने चित्तौड़ पर अधिकार करने का पूरा षड्यन्त्र रच लिया है। महाराणा-वंश का अन्त करने के लिए वे लोग मुकुल को भी मार डालेंगे। दूसरे दिन राजमाता ने यह भी सुना कि चण्ड के छोटे भाई रघुदेव को कैलवाड़े में उन्होंने अपने आदमियों को भेज कर मरवा दिया। सुनते ही उनके पाँव तले की जमीन खसक गई।

अन्य कोई उपाय सामने न देखकर राजमाता ने चण्ड की सहायता लेनी ही उचित समझी। उन्होंने एक पत्र में मेवाड़ की स्थिति का पूरा वर्णन कर एक गुप्तचर के द्वारा चण्ड के पास

भेज दिया। चण्ड ने संक्षेप में लिखे हुए उस पत्र को पढ़ कर ही सारा रहस्य समझ लिया और अपने साथ के विश्वासी सरदारों को गुप्तचर के साथ चित्तौड़ भेज दिया। साथ ही एक पत्र में राजमाता को उन्होंने यह भी लिख दिया कि आप इन सरदारों को प्रतिदिन पास के गांवों में भिक्षुओं को अन्न बांटने के लिये भेजा करें और साथ में कभी-कभी स्वयं भी मुकुल को लेकर जाया करें। ऐसा करने से लोगों में सद्भावनाओं का प्रचार होगा और समय पड़ने पर उनकी सहायता भी उपलब्ध हो सकेगी। दीपावली के दिन राजमाता मुकुल को लेकर 'गोसुण्डा' के स्थान पर चण्ड से जा मिलीं। आगामी कार्य-क्रम निश्चित किया गया और वीरवर चण्ड मुकुल को लेकर स्वयं चित्तौड़ आये। राजभवन के द्वार पर द्वारपालों ने उन्हें रोकते हुए पूछा कि आप कौन हैं, तो चण्ड ने उत्तर दिया कि हम लोग राजपूत सरदार हैं और महाराणा मुकुल को पहुंचाने के लिए 'गोसुण्डा' से आये हैं। उत्तर सुनते ही द्वारपालों ने दरवाजा खोल दिया और वे भीतर चले गये, किन्तु जब बहुत-से घुड़सवार आते हुए दिखाई दिये, तो द्वारपालों ने उन्हें रोका। मारकाट शुरू हो गई और चण्ड ने चित्तौड़ के किलेदार भट्टी-सरदार को पकड़ कर कैद कर लिया। रणमल उस समय शराब पिये हुए किसी स्त्री के साथ पड़ा हुआ सो रहा था। कोलाहल सुनते ही वह घबड़ा कर उठ बैठा, किन्तु उस स्त्री ने उसकी पगड़ी से उसके हाथ पांव एक चारपाई के साथ जकड़ दिये।

चण्ड ने वहीं पहुंच कर उसे मार डाला। जोधाजी अपनी जान बचाकर चित्तौड़ से भाग गया।

राठोरों का खटका मिटाकर युवराज चण्ड ने पुनः अपने भाई मुकुल को चित्तोड़ का निष्कंटक महाराणा घोषित किया और राजमाता की इच्छानुसार वहीं रह कर वे राज्य की देखभाल करने लगे। उन्होंने मन्दोर को भी जीत कर मेवाड़-राज्य के आधीन कर लिया। अपने पुत्रों को उन्होंने कई स्थानों का राज्य दे दिया था, परन्तु जोधराव ने उन्हें उनसे वंचित कर दिया और जोधपुर--राज्य की नींव डाली।

कुछ दिनों बाद दिल्ली के बादशाह मुहम्मद तुग़लक ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की। महाराणा मुकुल स्वयं सेना सजा कर युद्ध करने गये और रामपुर के पास बड़ी वीरता से बादशाह के साथ लड़े बहुत-सी यवन-सेना काट डाली गई, जो बचे उन्होंने भाग कर अपने प्राणों की रक्षा की। बादशाह पकड़ कर कैद कर लिया गया और अन्तमें सांभर-झील देकर उसका छुटकारा हुआ।

महाराणा मुकुल के तीन पुत्र और एक कन्या हुई। कन्या नाम लालबाई था। उसका विवाह गगनौर के एक सरदार के साथ हुआ था। अन्त में महाराणा मुकुल एक दासी-पुत्र के हाथ मार डाले गये। परस्पर कुछ हंसी-मजाक होरहा था कि इतने में किसी बात से रुष्ट हो कर दासी-पुत्र ने तलवार से महाराणा का सिर काट लिया और वे इहलौकिक लीला समाप्त कर परलोक सिधार गये।

सप्तम-परिच्छेद

महाराणा कुम्भसिंह!

सन् १४१६ ई० में चित्तौड़ के गौरवशाली राजसिंहासन पर महाराणा कुम्भासिंह सुशोभित हुए। इनके राजत्व-काल में मेवाड़ की व्यवस्था बहुत उन्नत और सम्पन्न कही जाती है। महाराणा कुम्भसिंह एक वीर शासक थे। उनकी वीरता का वर्णन तत्कालीन कवियों ने भी अपने काव्य-ग्रन्थों में किया है। अलाउद्दीन के साथ युद्ध के बाद प्रायः एक शताब्दी तक चित्तौड़ में पूर्ण-शान्ति स्थापित रही। उन्होंने घग्गर नदी के किनारे तक अपने राज्य की सीमा का विस्तार किया। मेवाड़ की रक्षा के लिए जिन चौरासी दुर्गों का वर्णन मिलता है, उनमें से बत्तीस दुर्ग महाराणा कुम्भ के ही तैयार कराये हुए हैं। वे अपने समय के एक ही आदर्श-वीर, हिन्दू धर्म के रक्षक तथा प्रजा-पालन करने वाले दयालू शासक थे।

दिल्ली में उन दिनों खिलजी-वंश के सुल्तानों का तेज इतना क्षीण हो चुका था कि राज्य भर में अशान्ति और विद्रोह की आग चारों ओर भड़क उठी थी। भारत के अन्यान्य राजा दिन प्रतिदिन स्वतन्त्र बनते जा रहे थे। गोलकुण्डा, मालवा, गुजरात आदि स्थानों के मुसलमान-शासक दिल्ली की अधीनता से निकल-

कर स्वाधीन हो चुके थे। देश भर में सर्वत्र हाहाकार मचा हुआ था। सभी जगह के राजा लोग अपने-अपने राज्य की सीमा बढ़ाने में लगे हुए थे। सभी का लक्ष्य अपनी स्वार्थ-सिद्धि की ओर था। राज्य बढ़ाने की दौड़ में सभी एक दूसरे से आगे निकल जाना चाहते थे। परस्पर के विरोध के कारण, इस समय वे शक्तिशाली थे, जिनके पास बल था, वे ही दौड़ में जीतते जा रहे थे।

महाराणा कुम्भा की उन्नतावस्था को देखकर गुजरात और मालवा के शासक उनसे ईर्ष्या करने लगे। सन् १४४० में दोनों शासकों ने एक साथ मिलकर चित्तौड़ पर चढ़ाई कर दी। महाराणा जी पहले ही से सचेत थे। उन्होंने एक लाख घुड़सवार और पैदल सेना तथा चौदह सौ हाथी लेकर अपने दोनों शत्रुओं का मुकाबला किया। मेवाड़ के वीर-राजपूतों ने मुसलमानों को काट-काट कर ढेर लगा दिया। भयंकर युद्ध के बाद अन्त में उन दोनों शासकों को मेवाड़ की विजयिनी सेना के आगे घुटने टेकने पड़े। गुजरात का सुल्तान तो अपनी जान बचाकर भाग गया, किन्तु मालवे का सुल्तान महमूद खिलजी पकड़ कर चित्तौड़ के कारागार में छः मास तक रखा गया। छः महीने बाद जब वह माफी मांग कर छूटा तो उसे दण्ड स्वरूप अपना ताज और सोने की बनी हुई कमर की पेटी महाराणा को भेंट करनी पड़ी। इसी विजय की स्मृति में एक विजय-स्तम्भ का निर्माण महाराणाजी ने करवाया, जिसे बनाने में पूरे दस वर्ष लगे। यह विजय-स्तम्भ राजस्थान में सर्वोत्तम माना जाता है। इसके बनाने में महाराणा कुम्भसिंह

को प्रचुरमात्रा में धन और श्रम व्यय करना पड़ा था।

कुछ दिनों के बाद (उपरोक्त युद्ध के पश्चात्) मालवे का शासक महमूद खिलजी महाराणा जी का परममित्र बन गया और जब दिल्ली के बादशाह ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की तो वह महाराणा की सहायता के लिये अपनी सेना सजाकर झुनझूणू के मैदान में जा पहुँचा। दिल्लीश्वर बुरी तरह से परास्त हुआ और उसकी शक्ति इतनी क्षीण हो गई कि वह बहुत दिनों तक किसी देश पर भी आक्रमण करने का साहस न कर सका। इस युद्ध के बाद महाराणा जी ने कमलमीर का दुर्ग बनवाया और ग्रीष्म ऋतु में रहने के लिये उन्होंने आबू के पहाड़ पर भी एक महल बनवाया। महाराणा केवल शासक ही नहीं थे, साहित्य से भी उन्हें विशेष प्रेम था और इस नाते वे एक अच्छे कवि और कुशल लेखक भी थे! उन्होंने 'गीत गोविन्द' नामक संस्कृत-पुस्तक की टीका लिखी है। इन्हीं वीर शिरोमणी महाराणा कुम्भा की धर्मपत्नी का नाम भक्त-रत्न मीराबाई था।

महाराणी मीराबाई के पिता राठोर-वंश के शासक थे, उनका नाम महाराज रत्नसिंह था। मीराबाई जितनी सुन्दर थीं उतनी धर्मपरायण भी थीं। उनका स्वर बड़ा सुरीला था। कृष्ण-भक्ति में डूबकर उन्होंने राजसुखों को भी त्याग दिया था। कृष्ण-गुणों का एकाग्रता से गायन करते-करते वे बेसुध हो जातीं। उन्होंने भक्ति-रस से भरे हुए बहुत से गायनों की रचना की है, जो आज भी बड़े प्रेम से देश के कोने-कोने में गाये जाते हैं। सुनते हैं जब

महाराणा कुम्भसिंह के साथ मीराबाई का विवाह हुआ, उस समय उनकी आयु केवल पाँच वर्ष की ही थी। बारात जिस समय राव रत्नसिंह जी के महल के नीचे पहुंची, तो मंगल-वाद्यों की ध्वनि कान में पड़ते ही पाँच वर्ष की बालिका मीराबाई ने खिड़की से झांकते हुए अपनी माता से पूछा,—"माँ, यह क्या है?" उत्तर मिला—"तेरा ब्याह !" अबोध बालिका ने हंसकर पूछा,—"दूल्हा कहाँ है माँ?" बेचारी वृद्धा अपनी पुत्री की अज्ञानता पर मुस्कराये बिना न रह सकी और टालने के लिये उन्होंने श्रीकृष्ण की एक छोटी-सी मूर्ति की ओर संकेत करते हुए मीराबाई से कहा,—"वह है तेरा दूल्हा !" मीरा ने पूछा,—"माँ, इनका नाम ?" उत्तर मिला,—"गिरधर गोपाल !" और तभी से उन्होंने गिरधर गोपाल की मनमोहिनी प्रतिमा को अपने हृदय-पट पर उतार कर उन्हें पूजना आरंभ कर दिया।

बाल्यकाल की वह छोटी सी घटना आगे चलकर इतना उग्र रूप धारण कर लेगी कि मीराबाई का सारा जीवन ही श्रीकृष्ण के चरण कमलों में अर्पण हो जायेगा। अपने लक्ष्य से हटाने के लिये उन्हें कैसे कैसे कष्ट और यन्त्रणायें पहुँचाई गईं, परन्तु दुनियाँ भर की बदनामी को भी एक ओर रखकर उन्होंने अपने गिरधर गोपाल को एक क्षण के लिये भी दिल से नहीं भुलाया। सारा समय गोविन्द की प्रतिमा को स्नान कराने, वस्त्र पहिना कर शृङ्गार करने, तथा आरती उतार कर मुरली मनोहर का गुण गान करने में ही बीत जाता और यही कार्य उनका पतिगृह में

असन्तोष का कारण बना। राजमाता अपनी पुत्र-बधु की पराकाष्ठा को पहुँची हुई कृष्णभक्ति को देखकर उनसे सदा रुष्ट रहने लगीं। बहुत कुछ समझाने बुझाने पर भी जब वे ढंग पर न आईं तो चिढ़कर उनके रहने का प्रबन्ध अलग कर दिया गया और कुम्भ को भी उनके पास न जाने की आज्ञा हुई। इतना ही नहीं, एक बार तो उन्हें हलाहल (विष) भी पीने को दिया गया, जिसे उन्होंने अपने आराध्य देव का चरणामृत समझ कर खुशी खुशी पी लिया और गोविन्द का नाम लेते ही वह हलाहल भी अमृत बन गया। बहुत से लोगों ने उनके निर्मल चरित्र पर भी छींटे कसने शुरू कर दिये और चरित्रहीन कह कर उन्हें व्यर्थ ही बदनाम करने की कुचेष्टा की गई। परन्तु संसार की कोई भी शक्ति मीराबाई को अपने सत्पथ से जरा भी विचलित न कर सकी। रातदिन चौबीसों घण्टे गिरधर गोपाल की माला जपने के सिवाय उनका और कोई काम ही न था। एक बार रात के समय, जबकि मीराबाई अपने एकान्त कमरे में मुरली मनोहर के साथ भक्ति रस में डूबी हुई इस प्रकार की बातें कर रही थीं, जैसी कि विरहाग्नि में तड़पती हुई कोई रमणी अपने प्राणवल्लभ के साथ वार्तालाप करती है, तो महाराणा कुम्भ जो उस समय छिपकर उनकी परीक्षा लेने आये थे, अपनी विवाहिता पत्नी के प्रेमपूर्ण वार्तालाप को सुनते ही आग बबूला होगये और हाथ में नंगी तलवार सूते हुए धड़धड़ा कर भीतर जा पहुँचे। जाते ही उन्होंने रोषपूर्ण शब्दों में प्रश्न किया,—"बोल

कुलटा, तू अभी किससे बातें कर रही थी—जल्दी बोल !" मीरा-बाई अपने पति के क्रोध और नंगी तलवार को देखकर जरा भी न घबराईं और बड़ी सरलता से उन्होंने कृष्णमूर्ति की ओर संकेत करते हुए करुणरस में डूबा हुआ गाना गाया, जिसे सुन कर महाराणा कुम्भ जैसे वीर शासक भी प्रभावित हुए बिना न रहे।

वह गाना यह था:—

गाना

मेरे तो गिरिधर गोपाल, दूसरो न कोई।
तात, मात, भ्रात, बन्धु, आपणो न कोई।
जाके सिर मोर-मुकुट, मेरो पति सोई॥
माता छोड़ी पिता छोड़े, छोड़े सगा-सोई।
साधाँ संग बैठ-बैठ, लोक-लाज खोई॥
संत देखि दौड़ि आई, जगत देख रोई।
प्रेम-आँसू डार डार, अमर-बेल बोई॥
अब तो बात फैल गई, जाने सब कोई।
दासी मीरा लाल गिरधर, होनी हो सो होई॥

गायन सुनते ही महाराणा की हृद्‌तन्त्री झंकार उठी। कैसा वैराग्य, कितनी भक्ति और कितना करुण रस भरा हुआ था इस गाने की प्रत्येक पंक्ति में, कि जिसे सुन कर एक पाषाण हृदय भी पिघल उठता। उस दिन के बाद से महाराणा जी ने फिर कभी उनके साथ कठोरता का व्यवहार नहीं किया और अपनी इच्छा

अनुसार कार्य करने की भी उन्हें पूरी-पूरी छूट दे दी गई। कुछ दिनों बाद मीराबाई वहाँ से वृन्दावन चली गईं और वहीं पर अनेक मन्दिर बनवा कर वे अपने जीवन के शेष दिन बिताने लगीं। उन्हें वापस लेने के लिए महाराणा स्वयं एक बार वृन्दावन पहुंचे, किंतु फिर कभी मेवाड़-निवासी उनके दर्शन न पा सके। महाराणा के पहुँचने के पूर्व ही एक दिन भक्त-शिरोमणि मीराबाई ने आवेश में आकर द्वारकानाथ जी के मन्दिर में गाते गाते प्राण विसर्जन कर दिए और इस प्रकार उन्होंने सारा जीवन 'गिरधर गोपाल' के गुण गान करने तथा रात दिन उन्हीं की सेवा करते हुए इहलौकिक लीला समाप्त कर दी। उनके बनाए हुए गीतों को आज भी बड़े प्रेम से गाया जाता है। यद्यपि मीराबाई अब इस संसार में नहीं हैं, किन्तु उनकी कृष्णभक्ति, त्याग, आत्म-बलिदान और सच्चरित्रता के कारण उनका नाम दुनियां में अमर रहेगा।

महाराणा कुम्भ का विवाह मालवा गांव की एक राठौर-वंशीय राजकुमारी के साथ भी हुआ था। उस कन्या की सगाई महाराणा कुम्भ के साथ हो जाने पर भी वह किसी दूसरे के साथ ब्याही जाने वाली थी, परन्तु महाराणा इसमें अपना अपमान समझ कर उस कन्या का अपहरण कर लाये थे। महाराणा कुम्भ ने प्रायः पचास वर्ष से अधिक शासन किया और इस बीच उन्होंने अपने राज्य की जो उन्नति करी, वह बहुत कम दूसरे महाराणाओं को करने का अवसर मिला। इसका मुख्य कारण था दिल्ली के अफगान-राज्य का पतन, जो उन दिनों अपने जीवन

के आखिरी सांस ले रहा था। महाराणा कुम्भ ने अपने शासन-काल में बत्तीस से अधिक नये किलों को बनवाया तथा सबसे अधिक प्रसिद्ध स्मारक, जो मालवा और गुजरात की विजय के उपलक्ष में विजय-स्तम्भ के नाम से निर्मित कराया गया, मेवाड़ के सर्वोत्तम स्मारकों में से एक ही था, इसे पूरा करने में दस वर्ष का समय लगा था। इसके अतिरिक्त और भी बहुत से काम महाराणा कुम्भ ने ऐसे किये, जिनसे पता चलता है कि उनके समय में मेवाड़ धन-धान्य से परिपूर्ण और अत्यन्त सम्पन्न देश था। अन्त समय में वे एक अपने ही पुत्र, उदयसिंह द्वारा मार डाले गये। उदा या उदयसिंह जैसे हत्यारे पुत्र को पाकर महाराणा कुम्भ की आत्मा स्वर्ग में भी शान्त न हुई होगी। उस दुष्ट हत्यारे का चरित्र जैसा दूषित और कलङ्कित है, वैसा मेवाड़ के उज्ज्वल इतिहास में अन्य किसी भी राजकुमार का नहीं। वह न जाने कहां से शिशोदिया-वंश की धवल कीर्ति को धब्बा लगाने के लिये महाराणा-कुल में उत्पन्न होगया था। राज्य के लोभ से उसने अपने पिता को भी मार डाला।

परन्तु पिता की हत्या करने पर भी वह अपने कुत्सित विचारों में सफल न हो सका। चित्तौड़ का राजसिंहासन अपने ऊपर उन्हीं वीर-कुल-भूषण, चरित्रवान एवं प्रतापी वंशजों को बैठने देता है जो बाप्पा रावल, खुम्माण और महाराणा हम्मीर जैसे पूर्वजों की अपूर्व कीर्ति को सदा उज्ज्वल रखने की प्रतिज्ञा करें। कुल कलंकियों के लिए चित्तौड़ का पवित्र सिंहासन कभी अपने

ऊपर बैठने का स्थान नहीं देता। उदा या उदयसिंह अपने मनोरथ में असफल रहने के कारण निराश होकर दिल्ली चला गया। और अपनी कन्या का विवाह कर देने की बात कह कर वहां के बादशाह की सहायता का प्रार्थी हुआ शायद ईश्वर को ही यह बात स्वीकार न थी कि महाराणा कुल की अमर कीर्ति में इस प्रकार धब्बा लगे। उदा की पापेच्छा वहां भी पूर्ण न हो सकी और वह बादशाह से मिल कर ज्यूं ही दिल्ली से लौटने लगा, त्यूं ही मार्ग में अकस्मात उसके सिर पर ऐसी बिजली गिरी कि वह तत्काल भस्म होकर वहीं मर गया।

महाराणा कुम्भ ने हिन्दू धर्म की रक्षा के लिये अनेक बार तलवार म्यान से निकाली और कई बार युद्ध स्थल में जाकर विधर्मियों का उन्हें मान मर्दन करना पड़ा। एक ओर वहां वे नये-नये किले, मन्दिर और महलों के बनवाने में पानी की तरह धन का व्यय करते थे, दूसरी ओर अपने बाहु-बल से शत्रुओं को नीचा दिखा कर उनके अपवित्र चंगुल से अपने देश, धर्म और जाति की रक्षा करना भी वे भली भांति जानते थे। उनके राजत्व-काल में गुजरात और माण्डु (मालवा) के सुल्तानों ने एक साथ मिलकर चित्तौड़ पर चढ़ाई की, परन्तु महाराणा कुम्भ की तलवार के आगे उन दोनों को भी झुकना पड़ा। गुजरात का सुल्तान अपनी जान बचा कर भाग गया, किन्तु मालवे का सुल्तान महमूदशाह खिजली पकड़ लिया गया और छः महीने बाद महाराणा से माफी मांग कर छूटा।

दूसरी बार विश्वास घाती महमूद खिलजी ने माण्डु से आकर माण्डलगढ़ पर आक्रमण किया और इस बार भी वह महाराणा की वीरता के आगे न ठहर सका। अपनी तमाम सेना का संहार कराने के बाद उसे माण्डु भाग जाना पड़ा सन् १४५७ ई० के लगभग महाराणा कुम्भ ने गुजरात का सुल्तान कुतुबुद्दीन के सेनापति मलिक इमादुल्मुल्क की सेना का आबू पहाड़ की तंग घाटियों में घेर कर इस बुरी तरह स सर्वसंहार किया कि फिर उसे चित्तौड़ की ओर मुंह करने का साहस न हुआ।

सन १४५८ ई० के लगभग म.ाराणा कुम्भ ने पुनः गुजरात के सुल्तान को ुरी तरह से परास्त किया। नागोर जीत लिया। नागोर में मुसलमानों ने गौहत्या की थी। महाराणा ने तुरन्त इसका बदला ले लिया और उनकी आज्ञा से फीरोज की बनाई हुई ऊंची मस्जिद जला दी गई, बाकी मस्जिदों को तोड़ कर बराबर कर दिया गया और वहां का किला ध्वंस करके चारों ओर की खाई भी भर दी गई। हाथी छीन लिये गये, युवतियां कैद कर ली गई। हजारों मुसलमान मारे गये। बन्दी की हुई गौएँ छुड़ा दी गई। शहर को जलाकर आग बुझने पर गोचर बना दिया गया। शम्सखां के खजाने का विपुल धन महाराणा जी के हाथ लगा। एक वर्ष के बाद ही पुनः महाराणा कुम्भ को गुजरात और मालवा की संयुक्त सेना के साथ युद्ध कर बुरी तरह से उन्हें परास्त करना पड़ा और इस प्रकार सारा जीवन

महाराणाजी का हिन्दू-जाति के गौरव की रक्षा के लिये शत्रुओं के साथ युद्ध करते ही बीता।

अष्टम-परिच्छेद
महाराणा रायमल !

सन् १४७६ ई० में महाराणा कुम्भ के दूसरे पुत्र राणा रायमलजी चित्तौड़ के सिंहासन पर बैठे। उनके गद्दी पर बैठते ही उद्दण्डम्लेच्छों ने पुनः उत्पात मचा कर हिन्दू-धर्म और उनकी संस्कृति के विरुद्ध उपद्रव मचाने आरम्भ कर दिये थे। मांडू का सुल्तान गयासशाह उन दिनों सबसे अधिक उद्दण्ड और अपनी शक्ति बढ़ाने की धुन में था। मजहब के जोश में अंधे सुल्तान ने अन्य हिन्दू नरेशों के साथ-साथ महाराणा रायमल को भी चुनौती दी। उन्होंने अभी राजकार्य संभालाही था,सैन्य-संगठन का भारी काम अभी आरम्भ ही किया था, अपने भाई उदयसिंह के समय के रुठे हुए सामन्तों को साम, दाम, दण्ड और भेद चार गुणों से फिर एकत्र करके उन्हें राष्ट्र हित के लिये कार्य तत्पर बनाना शुरू ही किया था कि इतने में युद्ध की दुन्दुभी बज उठी। मन्त्रियों में से कृष्णसिंह डोडिया ने परिस्थिति के विचार से महाराणाजी को परामर्श देते हुए कहा, "महाराणाजी, यह समय आपके युद्ध करने का नहीं है। अभी तो राजकार्य आपने संभाला

ही है, बहुत सी गुप्त-बातों को आप जानते ही नहीं। इसलिये मेरे विचार से ऐसे विकट समय में मालवा के सुल्तान गयासशाह से आपका सन्धि कर लेना ही कहीं अधिक उचित होगा।"
महाराणा रायमल वृद्ध मन्त्री की बात सुन मुस्कराते हुए बोले, "डोडिया जी वर्तमान स्थिति को देखते हुए आपकी सम्मति मानने के योग्य है इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु आपको भूलना नहीं चाहिये कि राजाओंके वंशधर परिस्थितियोंके दास नहीं वरंच परिस्थितियां ही उनकी दासी है, वे परिस्थितियों को अपने अनुकूल बना लेते हैं। ऐसे समय युद्ध न करना मानों गुहिल, खुम्माण, हमीर और कुम्भ के अपूर्व गौरव को धब्बा लगाना होगा। गयास जैसे दुष्ट म्लेच्छ को युद्ध में पछाड़ना ही हमारा मुख्य कर्त्तव्य है। मेवाड़ के क्षत्रिय वीर सदा अपनी कृपाण और नीले घोड़े पर ही भरोसा रखते आये हैं। इस गर्वोन्मत्त गयास का यदि गर्व-भंजन न किया तो वह नित्य की आपत्ति ही बना रहेगा। उसकी सेनायें माण्डू से कूच कर चुकी है। इस समय सन्धि का चर्चा न करके अपनी-अपनी तलवारों की धार तीखी करनी चाहिये।

मारू बाजों के बजते ही मेवाड़ का गगन-मण्डल गूंज उठा। मेवाड़ की गोद में पले हुए किसान अपने खेतों को छोड़कर सैनिक-वेश में झुण्ड के झुण्ड चित्तौड़ की ओर चल पड़े। हाट-बाजार, गली कूचों में मेवाड़ के वीर सैनिक हाथ में भाला, कंधे पर धनुष, पीठ पर बाणों से भरा हुआ तरकश तथा कमर में

तलवार बांधे चारों ओर घूमते दिखाई देने लगे। प्रत्येक की मूछें चढ़ी हुई, आंखों में गुलाबी डोरे खिंचे हुए, चेहरों पर उत्साह और देह में स्फूर्ती भरी हुई—सभी राजपूत वीर शत्रुओं का दर्प-चूर्ण करने युद्ध स्थल की ओर जाने के लिये लालायित हो उठे। गयास के परामर्श दाताओं ने चित्तौड़ पर चढ़ाई करने से उसे रोका, परन्तु वह जिद्दी था, इसलिये किसी की बात उसने स्वीकार नहीं की। मजहब के जोश में वह अंधा हो गया था और इसलिये अपनी भलाई बुराई सोचने की भी उसमें बुद्धि नहीं रह गई थी। अपने अधीन लोगों के 'सुल्तान-सुल्तान' पुकारने से उसे गर्व हो गया था कि वह सचमुच ही एक सुल्तान है। चित्तौड़ के पास पहुंचते ही दुर्ग के चारों ओर उसने घेरा डाल दिया। हिन्दू पति महाराणा रायमल ने भोर ही उठकर नित्य कर्म से निवृत हो सर्वप्रथम अपनी सेना का निरीक्षण किया। तदोपरान्त मेवाड़ के महावीर सरदारों ने ध्वज के सम्मुख प्रतिज्ञा की, कि हम ऐसा भयंकर युद्ध करेंगे कि जिससे शत्रु का कलेजा कांप उठेगा और मेवाड़ का यश आकाश तक फैल जायगा। इसके बाद वे सब दल बद्ध होकर युद्ध स्थल की ओर चल दिये। सैनिकों की यथा योग्य नियुक्तियां की गईं। चुने २ वीर सरदार चित्तौड़गढ़ के दरवाजों और कँगूरों पर छोड़े गये। एकाएक बिगुल बज उठे और नगाड़े पर डँका लगा कि यवन सेना आ पहुंची। अग्नि और बारूद की ज्वाला धधक उठी और आकाश पर धुआं छा जाने से चारों ओर अँधकार हो गया।

चित्तौड़ के बुर्जों से ओलों के समान गोले बरसने लगे। बुर्जों ने शेष नाग के फणों का रूप धारण किया और उनमें से गोले बारूद की ज्वाला इस प्रकार निकलने लगी जैसे कि शेषनाग के सहस्र मुखों से हजारों विष भरी जिह्वायें लपलपा कर बाहर निकल पड़ी हों। यवन सैनिकों में से जो भी साहस कर उस समय आगे बढ़ा, हिंदुओं की तलवारों ने उसी के दो टूक कर भूमि में धराशायी कर दिया।

सारा दिन लड़ते २ सूर्यास्त का समय हो गया। यवन सेना पीछे हट गई। घोर अँधकार पूर्ण रात्रि में चित्तौड़ गढ़ के भीतर भारी प्रकाश किया गया। वीरों की उपस्थिति लेकर महाराणा जी ने अपने हाथ से बारी २ सबको मुहरें बांटी। पहले दिन के युद्ध में ही धूर्त ग्यास को अनुभव हो गया कि वह शेरों की मांद में घुस आया है। जब सिंह की सूनी गुफा में कोई जाने का साहस नहीं कर सकता, तो उसके रहते हुये वहां कौन आ सकता है? ग्यास के सलाहकारों ने उसे बताता कि चित्तौड़ के भीतर जो यह शोर मच रहा है, यह राजपूत वीरों के उत्तेजित करने के लिये ढोलो-सिन्धु-राग में दोहे कहे जा रहे हैं, जिन्हें सुनकर ये हिन्दू एक बारगी ही भड़क उठते हैं। या तो इस समय हमला कर दीजिये, या सेना को पीछे हट जाने का हुक्म दे दीजिये।

कुछ सोचकर ग्यास कहने लगा कि यहां के हिन्दू भी फौलाद के बने हुये जान पड़ते हैं, इनका मुकाबला करना मानो

मौत को बुलाना है। मेरी फ़ौज ने जब दिन के वक्त हार कर अपना मुँह काला कर लिया तो अब ऐसी अँधेरी रात में इनसे क्या उम्मीद हो सकती है। बेकार हमला करके अपना ही नुकसान करने से क्या फ़ायदा ?

एक और सलाहकार बोल उठा,—जनाबआली ! चित्तौड़गढ़ हिन्दुस्तान के सबसे मजबूत किलों में से एक है यह आज तक किसी से टूट नहीं सकता है और न यहां के राजपूत-हिन्दू किसी से हार मानते हैं।

ग़यास ने बड़े तिरस्कार पूर्ण शब्दों से उत्तर देते हुए कहा, यह चित्तौड़गढ़ का दोष नहीं, मेरे भीरू और डरपोक बहादुरों का दोष है जिन्हें युद्ध की निस्बत अपने प्राणोंका अधिक मोह है।

पौ फटते ही दोनों ओर सेनायें फिर एक दूसरे के सामने आडटीं। धूर्तराज ग़यास ने छल-कपट से अपना काम निकालने का विचार किया। उसने हाथी, घोड़ों और ऊँटों पर नगाड़े रखकर चित्तौड़ के सिंहद्वार की ओर भेजे और चुने-चुने सरदारों को पैदल ही चित्तौड़गढ़ की एक बुर्जी पर अधिकार करने का हुक्म दिया। महाराणा का परम विश्वासी सरदार रघुनाथगौर उस बुर्ज की रक्षा कर रहा था। वह अपने कार्य में उमलेकर बड़ी सावधानी और सतर्कता के साथ वहां का पहरा देरहा था। विद्युतगति से इधर-उधर चलकर अपने साथियों को वह निरन्तर उत्साहित करता रहता एवं आगे बढ़ते हुये मुसलमानों को गोलियों का निशाना बना रहा था। दुर्ग की रक्षक सेना उस

समय सिंह द्वार की ओर व्यस्त हो गई थी अतएव रघुनाथगौर पर उस समय भारी जिम्मेदारी आपड़ी थी। पलक झपते ही अगणित गोले और गोलियां बरस जातीं। आक्रमण कारी भी गोलियों का जवाब गोलियोंसे देरहे थे। गौरने पलक झपकना भी अब बन्द कर दिया और वह अधीनस्थ सैनिकों को अनुशासन में रखता हुआ यन्त्र चालित जैसा आक्रमणकारियोंपर गोले बरसाने लगा। ग्यासुद्दीनके सेनानायक जहीरुल्मुल्क को गौर की गोली ने उड़ा दिया। महावीर मेवाड़ी योद्धा सिंह-गर्जना कर उठे और दुर्ग में चारों ओर जय-जयकार होने लगा उस तुमुलनाद और ध्वनि में वीर राजपूत तनिक ढीले पड़ गये और शूर-श्रेष्ठ रघुनाथ वीरगति को प्राप्त हुए।

वीर-वर गौर के गिरते ही उसके सैनिक क्रुद्ध सांपों के समान फुफकार उठे और उन्होंने इतनी उग्रता से गोलियां बरसानी शुरू करदीं कि देखते-देखते यवनों की लाशों के ढेर लग गये। युद्ध ने ऐसा भयंकर रूप धारण किया कि शत्रुओं के छक्के छूट गये। लड़ाई में गयास के सभी चुने-चुने सरदार मारे गये और वह बची हुई सेना लेकर युद्धस्थल से भाग निकला। भाट और चारण हिन्दू पति महाराणा रायमल जी का गुणगान करने लगे। महाराणा ने अपनी सेना के सभी वीर-राजपूत उत्तमोत्तम भोजन करने के बाद गोमुख-कुण्ड का जल पिलवाया और अपने हाथसे शूरवीरों को मुहरें बांटी। दुर्ग के जिस शृँग (बुर्ज) की रक्षा करते हुए वीर-वर गौर बलिदान हो गये थे उसका नाम गौर-

शृङ्ग रक्खा गया। शूरवीरों का सन्मान करने वाले महाराणा की जय-जयकार सैनिकों की अन्तरात्मा से फूट-फूट निकली और चारों ओर आनन्दोत्सव मनाये जाने लगे। इस विजय ने चित्तौड़गढ़ ने एक बार फिर हिन्दुओं का मस्तक ऊँचा कर दिया।

सुल्तान गयास युद्ध में हार कर अपनी राजधानी माण्डू जा पहुंचा। पराजय की लज्जा से वह लोगों को बहुत दिनों तक अपना मुँह न दिखा सका। इतनी धन और जन की हानि कराने के कारण माण्डू में घर-घर उसकी निन्दा होने लगी। यह निन्दा गयास के दिल में शूल की तरह चुभी और उसने फिर सेना का संगठन करना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु उसका कोई भी सरदार चित्तौड़ पर हमला करने की जिम्मेदारी लेने को तैयार न हुआ कई महीनों के सोच विचार के बाद गयास ने अपने सेनापति जफ़रखां को एक बड़ी सेना के साथ पुनः मेवाड़ पर चढ़ाई करने का हुक्म दिया। वह दुष्ट सेना लेकर माण्डू से चल तो पड़ा, किन्तु उसे चित्तौड़ जाकर खुल्लमखुल्ला मेवाड़ की सेना के साथ लड़ने का साहस न हुआ। पिछले युद्ध में वे भली प्रकार राजपूतों की चमकती हुई तलवारों के कौशल देख चुके थे। अतः इस बार जफ़रखां ने मेवाड़ की पूर्वी सीमा पर स्थित निहत्थी प्रजा को लूटना शुरू कर दिया।

महाराणा यह समाचार सुनते ही अत्यन्त क्रुद्ध हुये। यवनों के इस नीचता पूर्ण कार्य ने प्रजा-पालक महाराणा को क्षुब्ध कर दिया और उन्होंने तुरन्त अपने पांच राजकुमारों को,

जिनका नाम-पृथ्वीराज, जयमल, सँग्रामसिंह, पत्ता और रामसिंह था उस यवन-सेनापति की उद्दण्डता का मज़ा चखाने की आज्ञा दी। कान्ह चूड़ावत, सारङ्गदेव, अज्जावत, कल्याणमल खीची, पँवारराघव, महपावत और कृष्णसिंह डोडिया आदि अनेकानेक चुने हुये सरदारों के अधीन बड़ी भारी सेना के साथ युद्ध की कमान अपने हाथ में लेकर महाराणा माण्डलगढ़ की ओर बढ़े युद्ध करने के पूर्व महाराणा ने एक दूत जफ़रखां की छावनी में भेजा। दूत ने बड़ी घृणा और तिरस्कार से ज़फ़रखां को फटकारते हुए कहा,-"रे गीदड़ों के सरदार! जब तक महाराणा जी के सिंह रूपी राजपूत वीर नहीं पहुंचते, तभी तक तू गुलछर्रे उड़ा ले। निहत्थी प्रजा को लूटकर अपना घर भरने वाले दुष्ट यवनो, धिक्कार है तुम्हें और तुम्हारे जीवन को! नरपिशाचो तुम्हारी वीरता का पता तो उसी रोज़ लग गया था, जबकि चित्तौड़ के मैदान से अपनी जान बचा कर तुम लोग भागे थे यदि शर्म होती तो डूब मरते चुल्लू भर पानी में। राजपूत वीर आ रहे हैं, फिर से कफ़न बांध कर तैयार हो जाओ!"

ज़फ़रखां ने चिढ़ कर उस दूत को पकड़ने की आज्ञा दी, किन्तु वह मेवाड़ी राजपूत भला कब उन हत्यारों के अपवित्र हाथों में फँस सकता था। बड़े कौशल से तलवार चलाता हुआ, उछलता-कूदता अपने आप को बचाता हुआ वह दूत यवनों की छावनी से निकल अपने साथियों से जा मिला। महाराणा की विजय-वाहिनी सेना के पहुंचते ही ज़फ़रखां का दिल

बैठ गया, किन्तु वह भागा नहीं। महाराणा रायमल ने सेना के एक भाग को तीन टुकड़ियों में विभक्त किया और एक-एक टुकड़ी का सेनापति अपने तीन पुत्रों में से पृथ्वीराज, जयमल और सँग्रामसिंह को बनाया। युवराज पृथ्वीराज जो बड़ा वज्र हस्त और कट्टर हिन्दू था, अपनी सेना को सबसे तेज ले उड़ा। यवन सेना की हिरावल उस समय ज़फ़रखां स्वयं कर रहा था दोनों सेनाओं के आमने सामने होते ही घमासान युद्ध होने लगा पृथ्वीराज की सेना सूची-व्यूह से मुसलमानों की सेना के हरावल में घुस गई और इस प्रकार उसमें भारी दरार होगया। यवनों के पाँव उखड़ गये और ज़फ़रखां जान लेकर भागने लगा। तब तक एक ओर से सँग्रामसिंह और दूसरी ओर से जयमल भी अपनी टुकड़ियों को लिये हुए उनके सिरों पर जा धमके। अब वह दुराचारी ज़फ़रखां बुरी तरह से अपनी सेना सहित बीच में घिर गया। सांगा (सँग्रामसिंह) ने अपने हाथ से इतने यवनों का सँहार किया कि चारों ओर "सांगा सांगा" इसी नाम की दुहाई मच गई।

अन्त में भीषण मार-काट के पश्चात ज़फ़रखां की सेना का एक भी सिपाही जीवित न बचा। एक मात्र वह ही ऐसा अभागा रह गया था जो फटे हाल, रक्त-रंजित देह लिये, नंगे पांव, सिर झुकाये युवराज पृथ्वीराज के चरणों में आगिरा। पकड़कर उसे चित्तौड़ लाया गया और एक महीना कैद में रह कर भारी जुर्माना देने के बाद गयास का सेनापति अपमानित

व लांछित होकर मेवाड़ से विदा हुआ। वहां से महाराणा ने सेना सहित मालवे की ओर प्रस्थान किया और खैराबाद की प्रसिद्ध लड़ाई में हिन्दुओं ने अपने खांडों से यवन-सेना के टुकड़े कर दिये। मालवे की सेना को बुरी तरह से हरा कर महाराणा जी ने वहां के सुलतान से बहुत सा द्रव्य दण्ड स्वरूप प्राप्त किया। युद्ध से लौटने पर महाराणा तथा उनके वीर-सैनिकों के स्वागत के लिये मेवाड़ का प्रत्येक घर सजाया गया और चित्तौरगढ़ ने तो मानो अमरावती की शोभा ही छीन ली थी। महाराणा और अन्य हिन्दू-वीरों के पहुंचते ही तोपें दागकर उनका स्वागत किया गया।

महाराजा रायमल के तेरह पुत्र थे। सबसे बड़े पृथ्वीराज, तब जयमल, फिर सांगा या संग्रामसिंह और उनके बाद क्रमशः कल्याणमल, पत्ता, रायसिंह, भवानीदास, देवीदास, सुन्दरदास, बेणीदास तथा दो पुत्रियां जिनका नाम आनन्दबाई (दामोदर कँवर) और जयबाई (हरकँवर) था।

इससे बड़ा और कोई असत्य न होगा कि भारत में यवनों ने वीरता से राज्य हस्तगत किया। हमें गर्व है कि हमारे देश के वीरों की युद्ध सम्बन्धी व्यक्तिगत योग्यता इतनी उच्च और आदर्शमय रही है कि जिसके कारण हमारा मस्तक सदैव ऊँचा ही रहेगा। मुसलमानों का यह दावा कि उन्होंने हिन्दुस्तान में तलवार के जोर से अपना राज्य स्थापित किया, सर्वथा मिथ्या-भिमान के जोर से भरा हुआ और दुनियां को धोखे में डालने

जाता है। परस्पर की फूट के कारण और राज्य के उत्तराधिकार केलिये आपस में वैमनस्य रखने वाले हिन्दुओं ने ही मुसलमानों के छल कपट में आकर, अपनी तलवार के बल पर राज्य जीत जीत कर उनके हवाले किये। कहावत प्रसिद्ध ही है कि, "आपस की फूट ही ते सब हिन्दुवान फूटे।" यदि ऐसा न होता तो आज ये मुसलमान भारत की पवित्र भूमि में ढूँढे से भी न मिलते।

महाराजा रायमल के तीन बड़े पुत्रों—पृथ्वीराज, जयमल और संग्रामसिंह में भी राज्य के लिये होड़ हुई और उसने ऐसा विकट रूप धारण किया कि तीनों एक दूसरे की जान के दुश्मन बन बैठे। जहां तक एक दूसरे से बढ़ चढ़ कर शौर्य दखाने का भाव था, वहां तक तो ठीक था। राष्ट्र के हित चिन्तन में दूसरों से बढ़ चढ़ जाने की इच्छा होनी तो हितकर है। परन्तु इस इच्छा में अपने साथियों से द्वेष करने का भाव आ जाना अत्यन्त नाशकारी है। राज्य राजा की अपनी सम्पत्ति नहीं, वह तो प्रजा की धरोहर है। यह सत्य भूल जाने के कारण भारत का एकच्छत्र साम्राज्य आज छोटे छोटे रजवाड़ों में बटा हुआ दिखाई देता है और हिन्दू शूरमा इस्लाम के बढ़ते हुए विष-वृक्ष की जड़ों को तुरन्त ही उखाड़ कर न जला सके। परिणाम यह हुआ कि मुसलमान आज इसे अपनी जागीर समझ बैठे हैं।

व्यक्तिगत योग्यता का अभिमान और उसका प्रदर्शन जब अधिक बढ़ जाता है तो राष्ट्र को उससे भारी हानि उठानी

पड़ती है, भले ही वह राष्ट्र कितना भी समृद्ध एवं बल शाली क्यों न हो। बाहरी आक्रान्ताओं का सामना करने के लिये यदि सारे हिन्दू राष्ट्र संगठित होकर सम्भूय समुत्थान के अनुसार एक बारगी ही उन शत्रुओं को खदेड़ने का प्रयत्न करते तो आज हिन्दु जाति को मुसलमानों के पैशाचिक अत्याचार न सहने पड़ते। व्यक्तिगत साम्राज्य लिप्सा ने ही भारत के हिन्दू राजाओं को एक न होने दिया। मौका देख कर चोर घर में घुस पड़े और लूट पाट मचानी शुरू कर दी, किन्तु सर्वस्व लुटा कर भी भाई भाई ने परस्पर लड़ाई करना नहीं छोड़ा। एक दूसरे को देखकर जलना और स्वयं उससे आगे निकल जाने की चेष्टा करना। यह दूषित भावनायें ही हमारे विनाश का कारण बनी हैं। यदि ऐसा न होता तो क्या उन हिन्दू रणसिंहों के सामने कायर शृङ्गाल तनिक भी ठहर पाते ?

एक दिन हँसी हँसी में पृथ्वीराज, जयमल और संग्रामसिंह ने महल में आये हुये ज्योतिषी जी को अपनी अपनी जन्म पत्रियां दिखाते हुये पूछा, "अच्छा बताइये तो हममें से राज योग किसके है ?" ज्योतिषी जी ने देखा कि ग्रह तो तीनों राजकुमारों के बहुत उत्तम हैं, किन्तु राज-योग कुँवर संग्रामसिंह के ही है। उन्होंने पहले तो छिपाने की चेष्टा करी, किन्तु पृथ्वीराज का हठ देख कर ज्योतिषी जी को स्पष्ट बता देना पड़ा कि राज-योग संग्रामसिंह के है, इसलिये मेवाड़ के

राणा वही होंगे। इतना सुनते ही पृथ्वीराज और जयमल क्रोधाग्नि से आपाद मस्तक जल उठे। पृथ्वीराज ने आवेश में आकर तुरन्त अपनी तलवार भी निकाल ली और ऐसा भेद (हूल) दिया कि संग्रामसिंह की एक आंख उसी समय बाहर निकल पड़ी। अपने बड़े भाई पृथ्वीराज के इस अन्याय पूर्ण व्यवहार को देखकर संग्रामसिंह को भी क्रोध आ गया और उन्होंने भी तुरन्त तलवार निकाल कर पृथ्वीराज को ललकारा। दोनों भाइयों में खूब लड़ाई हुई। और एक जरा सी बात के कारण राजमहल देखते २ युद्धक्षेत्र बन गया। अकस्मात वहां महाराणा रायमल के चाचा सारङ्गदेव जी आ पहुंचे। उन्होंने गर्जकर कहा,—"सावधान! अपनी अपनी तलवारें म्यान में करो।" सारङ्गदेव एक प्रभाव शाली व्यक्ति थे। उन्हें सम्मुख देखते ही दोनों राज कुमारों ने लज्जित होकर अपनी तलवारें कोष में रख लीं।

सारङ्गदेव ने दोनों भाइयों को समझाते हुये कहा,—"पृथ्वीराज, तुम वीर हो—सांगा, तुम भी वीर हो! एक राणा रायमल की दायीं भुजा है तो दूसरा बायीं भुजा। तुम्हारे जैसे वीरों की आज देश को जितनी आवश्यकता है, यह बात तुम दोनों ही भली प्रकार जानते हो। समस्त हिन्दू जाति यवनों के अमानुषिक अत्याचारों से दुखी होकर त्राहि त्राहि कर रही है। घर की फूट के कारण कितने हिन्दू राज्य ध्वस्त हो चुके हैं। अब यवनों के अपवित्र हाथों से तंग आये हुये हिन्दुओं की

आशा भरी निगाहें एक मात्र मेवाड़ के महाराणाओं की ओर लगी हुई हैं। इसीलिये हिन्दू जनता नित्य प्रातः काल उठकर गुहिल, बाप्पा रावल, खुम्माण, हमीर तथा कुम्भा का नाम बड़े गौरव से लेती है। महाराणा रायमल ने माण्डू के सुलतान गयासुद्दीन को रण में अनेक बार पछाड़ कर लोगों में उत्साह भर दिया है। जगह जगह हिन्दू घरों में आज महाराणा रायमल के गुण गाये जा रहे हैं। किन्तु बड़े खेद की बात है कि उन्हीं प्रातः स्मरणीय महाराणा रायमल की सन्तान होकर तुम लोग आपस में एक दूसरे के खून के प्यासे हो रहे हो। यह कैसी लज्जा की बात है! पिता के रहते राज्य के लिये लड़ना तुम्हें शोभा नहीं देता। क्या ही अच्छा हो यदि तुम दोनों अपने-अपने बल और पराक्रम को शत्रुओं का मान मर्दन करने में व्यय करो। मातृभूमि के लाड़लो, देश की स्वाधीनता बनाये रखने के लिये आज तुम्हें अलग होकर नहीं, एक साथ मिल कर काम करना होगा। यह समय कलह बढ़ाने का नहीं, संगठित होकर अपनी शक्ति बढ़ाने का समय है और उस शक्ति का प्रयोग शत्रु को मार भगाने में करो तभी तुम्हारा, तुम्हारे देश का, जाति, धर्म और समाज का कल्याण हो सकेगा, अन्यथा नहीं।"

इसी प्रकार की बहुत सी ऊँच नीच बातें समझाकर सारङ्गदेव ने उन दोनों भाइयों को शान्त कर दिया! कुँवर संग्रामसिंह जो सरल प्रकृति के एक दूरदर्शी राजकुमार थे, अपने

दादा के उपदेशों को मानकर फिर जैसे के तैसे हो गये। किन्तु युवराज पृथ्वीराज के हृदय में ईर्ष्याग्नि ज्यूँ त्यूँ सुलगती ही रह गई। हठी और उग्रस्वभाव का होने के कारण वह भाई की शत्रुता अपने हृदय से दूर न कर सका।

सारङ्गदेव उच्चमना वीर और एक आदर्श व्यक्ति थे। पृथ्वीराज के मन में उठी हुई कुत्सित भावनाओं को वे ताड़ गये थे, इसीलिये जाते समय सँग्रामसिंह को भी वे अपने साथ ही लिवाते ले गये और अपने निवास स्थान पर पहुंच कर उन्होंने सँग्रामसिंह की फूटी हुई आंख की बड़े २ वैद्यों और कविराजों से चिकित्सा भी करवाई, परन्तु वह आंख फिर ठीक न हो सकी। कुछ दिनों बाद जबकि कुँवर सँग्रामसिंह अकेले ही कहीं जा रहे थे, पृथ्वीराज ने पुनः उन्हें घेर लिया और युद्ध के लिये ललकारा। सँग्रामसिंह भी उत्तेजित हो उठे। दोनों लड़ने के लिये अभी उद्यत हुये ही थे कि सारङ्गदेव ने पहुंचकर पुनः बीच बचाव करवा दिया और समझाते हुये बोले, 'यदि तुम निर्णय ही करना चाहते हो कि राज्य किसको मिलेगा, तो भीमल गांव के मन्दिर में चले जाओ। वहां चारण-जाति की एक पुजारिन है, जिसे लोग आज कल का अवतार मानते हैं। उससे अपना फैसला करा लो!"

एक दिन पृथ्वीराज, जयमल और सँग्रामसिंह उस गांव में भी जा पहुंचे। उनके साथ सारङ्गदेव और अनेक राजपूत सरदार भी थे। मन्दिर में पहुंचकर राजकुमारों ने पुजारिन से यही

प्रश्न किया कि हम तीनों में से मेवाड़ का महाराणा कौन बनेगा पुजारिन ने गणित विद्या के आधार पर हिसाब जोड़ जाड़ कर बताया कि "चित्तौड़ के सिंहासन पर संग्रामसिंह ही बैठेगा और ये दोनों भाई–पृथ्वीराज और जयमल लड़ते हुये मारे जायेंगे।" पुजारिन के मुख से बात अभी समाप्त भी न हो पाई थी कि पृथ्वीराज और जयमल अपनी २ तलवारें सूँत कर एक साथ ही सांगा पर टूट पड़े। सारङ्गदेव और संग्रामसिंह ने बड़ी फुर्ती से उन दोनों के वारों को अपनी ढाल में रोका। पृथ्वीराज ने पुनः सांगा पर वार किया और सारङ्गदेव ने अपने सिर पर झेल कर उस वार से सांगा को साफ बचा दिया। अब तो सांगा के क्रोध का भी ठिकाना न रहा। वह भी अपनी तलवार सूँत कर पृथ्वीराज पर टूट पड़ा और दोनों भाइयों में खूब लड़ाई होने लगी। लड़ते २ दोनों ही बुरी तरह से घायल हो गये, पर हार एक ने भी न मानी। अन्त में कुछ देर बाद पृथ्वीराज बेसुध होकर नीचे गिर पड़े। जयमल वार करने के लिये आगे बढ़ा, किन्तु सांगा में अब लड़ने की शक्ति नहीं रह गई थी। अतः आत्म-रक्षा के लिये अपने घोड़े पर चढ़ वे वहां से भाग निकले। जयमल भी अपने सैनिकों सहित उन्हें पकड़ने के लिये दौड़ पड़ा।

सांगा अपने घोड़े को सरपट दौड़ाते हुये सेवन्त्री गांव में जा पहुंचे। वहां रूपनारायण के मन्दिर में दर्शन करने के लिये बीदा जयमल मालवन राठौर अपने कुछ साथियों को लेकर आया

हुआ था। कुँवर संग्रामसिंह को ऐसी दशा में देखते ही वह स्तब्ध रह गया। सांगा ने जल्दी जल्दी उसे अपनी पूरी बातों से अवगत कराया. बीदा ने उन्हें आश्वासन देते हुये विश्राम करने को कहा। किन्तु घाव धोकर वे लोग अभी सांगा की मरहम पट्टी करके निबटे ही थे कि इतने में जयमल भी अपने सैनिकों सहित वहां आ धमका। उसने बीदा को धमकाते हुये कहा,—"बीदा, सांगा को जल्दी हमारे हवाले कर दो—नहीं तो गेहूँ के साथ घुन भी पिस जायगा। सांगा को तो हम छोड़ेंगे ही नहीं, किन्तु तुम व्यर्थ ही मारे जाओगे।" वीरवर बीदा भी डरने वाला पुरुष नहीं था। उसने कड़कती हुई आवाज में उत्तर दिया,—"शाबाश, कुँवर जी ! आपसे यही आशा की जासकती थी। मुझे उपदेश करने की अपेक्षा जरा अपने कर्तव्य की ओर देखो। भाई के रक्त से हाथ रंगना चाहते हो, लज्जा नहीं आती ? जानते हैं महाराणा जी इस अनीति के लिये आपको क्या दण्ड देंगे ?"

जयमल इस तरह की फटकार सुनने का आदी नहीं था। वह समझ गया कि शरण में आये हुये सांगा को वीर राठौर बिना युद्ध किये हुये कभी न देगा। उसने बीदा को युद्ध के लिये ललकारा। वीरवर बीदा ने सहर्ष युद्ध करना स्वीकार कर लिया। और सांगा को अपने घोड़े पर बैठाकर गोंडावार की ओर भेज दिया। सांगा को सुरक्षित स्थान में भेजने के बाद ही वह स्वयं जयमल के साथ लड़ाई में कूद पड़ा और सैनिक थोड़े होने

के कारण ज्येष्ठ शुक्ला ७ सम्वत् १५६१ वि० को राठोर बीदा जयमल के साथ लड़ता हुआ मारा गया। उसके सैनिक भी एक एक करके सब कट मरे। वाह रे, वीर बीदा तू धन्य है! शरणागत की रक्षा करना क्षात्र धर्म समझ कर ही तू ने अपने प्राणों का मोह भी त्याग दिया।

बीदा को मार कर भी जयमल के हाथ सांगा न लग सका। सिंह पहले ही पिंजड़े से निकल भागा था। इसलिये वह निराश होकर खाली हाथ वहां से लौट आया। उधर पृथ्वीराज और सारङ्गदेव के घावों की चिकित्सा की गई। दोनों के घाव भर कर पूर्ण स्वस्थ होने में काफी दिन लगे। महाराणा रायमल ने जब इस भ्रातृ कलह को बात सुनी, तो उन्हें हार्दिक दुख हुआ। जांच करने पर महाराणा जी को ज्ञात हो गया कि पृथ्वीराज ही इस कलह का मूल कारण है। उन्होंने एक दूत के द्वारा पृथ्वीराज को कहला भेजा कि यदि तू पुरुष है तो मुझे अपना मुंह न दिखाना। मेरे होते हुये तूने राज्य के लोभ से ऐसा क्लेश बढ़ाया और मेरा कुछ भी लिहाज नहीं किया। कुल गौरव के मान अपमान की तूने जरा भी परवाह न की; क्या इसीलिये तू पैदा हुआ था कि अपने दुष्कृत्यों से तू मुझे दुःख पहुंचाये। पृथ्वीराज इस फटकार को सुन कर बहुत लज्जित हुआ और कुम्भलगढ़ जाकर रहने लगा।

पठानों का एक सरदार लल्लाखां उन्हीं दिनों बहुत उपद्रव मचा रहा था। उसने जयपुर राज्य के टोडानगर को सोलंकियों

से छीनकर उन्हें निकाल दिया और स्वयं वहां का अधिकारी बन बैठा। सोलंकी राव सुरताण हरराजोत आपत्ति का मारा हुआ हिन्दुओं के एकमात्र आधार महाराणा रायमल जी की शरण में आ पहुंचा। महाराणा ने उसका बहुत मान किया और बदनौर का प्रदेश जागीर रूप में देकर उसे अपना सरदार बना लिया। राव सुरताण हरराजोत की ताराबाई नामक एक परम रूपवती कन्या थी। जयमल ने उसकी ख्याति सुनकर उसके पिता सुरताण को कहला भेजा कि मैंने सुना है आपकी पुत्री बड़ी सुन्दर है, यदि यह बात ठीक है तो मैं उसे देखना चाहता हूँ। पसन्द करने पर ब्याह कर लूंगा।

राव सुरताण को जयमल की यह उद्दण्डता बहुत बुरी लगी, किन्तु महाराणा रायमल का जागीरदार होने के नाते सोलंकी राव ने उत्तर में कहला भेजा कि, "कुँवर जी, हम राजपूत हैं और राजपूत की पुत्री पहले दिखाई नहीं जाती। हां, यदि आप उससे विवाह करना चाहें तो मुझे स्वीकार है।"

क्रोधी जयमल ने महाराणा को बिना सूचना दिये सेना लेकर राव पर चढ़ाई कर दी। इस युद्ध में ताराबाई के मामा रत्नसिंह के हाथ से जयमल मारा गया। रत्नसिंह भी जयमल के सैनिकों से बच न सका और उसे भी किसी सैनिक ने मारकर समाप्त कर दिया। सूचना मिलते ही महाराणा को अपने पुत्र जयमल के मारे जाने का बड़ा दुःख हुआ और

उन्होंने मामले की जांच कराई। न्याय परायण महाराणा रायमल को जब यह मालूम हुआ कि इसमें दोष जयमल का ही था, तो उन्होंने राव सुरताण निरपराधी को घोषित कर दिया। इस न्याय से महाराणा रायमल का यश देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल गया था।

टोंड़ा का राज्य छिन जाने के कारण, सोलंकी राव सुरताण हर समय दुःखी रहा करते थे और रात दिन वे अपना राज्य वापिस लेने का ही उपाय सोचा करते थे। उन्होंने निश्चय किया कि मैं अपनी पुत्री ताराबाई का विवाह उस वीर राजपूत से करूँगा जो मेरा राज्य मुझे वापिस दिलाने की प्रतिज्ञा करे। यह खबर उड़ती उड़ती पृथ्वीराज के कानों तक भी जा पहुंची। उस वीर राजकुमार के लिये ताराबाई के सौन्दर्य की अपेक्षा दुष्ट लल्लाखां का मान मर्दन करना ही कहीं अधिक आकर्षक था। उसने राव सुरताण से टोंड़ा वापिस दिलाने की प्रतिज्ञा की। बड़ी धूम धाम से पृथ्वीराज के साथ ताराबाई का विवाह सम्पन्न हो गया। राजपूत वीर सदा ही अपने प्रण के पक्के होते हैं। पृथ्वीराज ने नये ढंग से सैन्य संगठन किया और लल्लाखां पर चढ़ाई कर दी। घर-घर में गीत गाये जाने लगे- "भाग लल्ला पृथ्वीराज आयो!"

और—हद पृथ्वीमल्ल, भाजे टोंडो।
लल्ला तणौं सरधारे लोह॥ भाग लल्ला पृथ्वीराज आयो॥

ये गीत लल्ला खां के कानों में भी पड़ा। पर वह अपनी

सेना तैयार भी न कर पाया था कि पृथ्वीराज की सेना ने टोड़े को आ घेरा। अजमेर का मुसलमान सूबेदार मल्लूखां "इस्लाम खतरे में" देखते ही लल्लाखां की सहायता करने टोड़ा आ पहुंचा। परन्तु उसके पहुंचने के पूर्व ही पृथ्वीराज की तलवार लल्लाखां के दो टुकड़े कर चुकी थी और ताराबाई के भाले ने उसके सिर को छेदकर आकाश में लहरा दिया। चारों ओर पृथ्वीराज की वीरता की धूम मच गई। लल्लाखां को ठिकाने लगाकर पृथ्वीराज की सेना ने मल्लूखां पर भी धावा बोल दिया और देखते देखते उसकी सेना का भी सर्व-संहार कर दिया पृथ्वीराज ने आगे बढ़ कर एक हाथ तलवार का ऐसा मारा कि अजमेर के सूबेदार मल्लूखां का सिर कटकर भुट्टा सा दूर जा गिरा। असुर के मरते ही राजपूत वीरों ने अजमेर के किले गढ़बीठली पर अधिकार कर लिया। वहां भगवद्ध्वज लहरा गया। शंख और नगाड़ों के मंगल-निनाद से सारा अजमेर गूँज उठा और पृथ्वीराज की जय जयकार होने लगी।

अजमेर की विजय के बाद जब पृथ्वीराज कुम्भलगढ़ लौटा तो किले में उसका बड़ी धूमधाम से स्वागत किया गया। विजय का नशा बहुत बुरा होता है। पृथ्वीराज भी इस विजय गर्व से फूलकर अपनी मर्यादा को भूल बैठा। महाराजा रायमल ने अपने चाचा सारङ्गदेव को कई युद्धों में अच्छी वीरता दिखाने के कारण भैंसरोगढ़ की जागीर उन्हें दे दी थी। उस जागीर की वार्षिक आय कई लाख रुपया थी। पृथ्वीराज ने सारङ्गदेव

से वह जागीर छीन लेने का निश्चय किया। क्योंकि सारङ्गदेव ने भीमलगांव की लड़ाई में सांगा का पक्ष लिया था, तभी से पृथ्वीराज के मन में यह बात खटक गई थी। अब मौका पाते ही दो हजार सवारों को लेकर उसने चढ़ाई करदी। सारङ्गदेव किले से निकल भागा। इस प्रकार पृथ्वीराज ने विजय गर्व में चूर होकर राज्य के शुभ चिन्तक वीर का हाथ से खो दिया।

सारङ्गदेव अकारण ही अपनी जागीर छिन जाने के कारण अत्यन्त क्रुद्ध हुए और अन्य कोई उपाय न देख कर वे महाराणा जी के विरोधी सूरजमल से जा मिले। सूरजमल देश द्रोही था, वह माण्डू (मालवा) के सुलतान नासिरुद्दीन की शहपर महाराणा के विरुद्ध भड़क उठा था। सारंगदेव के पहुंचते ही माण्डू के सुलतान ने सूरजमल और सारङ्गदेव को महाराणा रायमल के विरुद्ध खूब भड़काया। वे दोनों उस कुटिल म्लेच्छ की कपट पूर्ण चालों को न समझ सके और सुलतान की सेना का जोर पाकर चित्तौड़ पर चढ़ाई करने के लिये चल दिये। महाराणा को सूचना मिलते ही घुड़सवारों की एक छोटी सी टुकड़ी लेकर गम्भीरी नदी के किनारे वे अपने विरोधियों पर टूट पड़े। इस युद्ध में शत्रु सेना की ठीक संख्या और बल का ठीक अनुमान न होने के कारण महाराणा जी को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। युद्ध ने भयङ्कर रूप धारण कर लिया और महाराणा के इस युद्ध में बाईस घाव लगे।

सूरजमल और सारङ्गदेव की सेना जोर पकड़ती जा रही थी कि अकस्मात् कुम्भलगढ़ से पृथ्वीराज के सेनापतित्व में एक विशाल सेना आ धमकी। भीषण संग्राम के बाद विजय पृथ्वीराज की हुई। सारङ्गदेव और सूरजमल दोनों बहुत बुरी तरह से घायल हुए। सारङ्गदेव का बड़ा लड़का तिम्बा इस युद्ध में मारा गया। मालवे की सेना के साथ साथ अपनी भी सेना का सर्व संहार कराके सूरजमल सादड़ी को और सारङ्गदेव बाठरड़े को भाग गये।

कुछ दिनों के बाद सूरजमल बाठरड़े पहुंचा और वहां सारङ्गदेव से मिलकर उसने गुप्त परामर्श किया। उसी दिन खबर पाकर पृथ्वीराज भी एक सहस्र सवारों को लेकर वहां जा पहुँचा। आक्रमण करके उसने सारङ्गदेव को मार डाला और सूरजमल के साथ सन्धि हो गई। इस प्रकार सारङ्गदेव को मार कर उसने अपने बैर का बदला उससे ले लिया। सूरजमल मेवाड़ छोड़कर बाहर चला गया।

पृथ्वीराज की बहन आनन्दबाई का विवाह सिरोही के अधिकारी राव जगमल के साथ हुआ था। अन्य रानियों के बहकाने से राव उसके साथ बड़ी कठोरता का व्यवहार किया करता था। पृथ्वीराज अपने बहनोई को समझाने के लिये सिरोही पहुंचा। वहां उसका बहुत आदर सत्कार किया गया। परन्तु सगे सम्बन्धियों में से ही किसी ने घातक विष देकर उस महावीर का प्राणान्त कर दिया। कितने दुःख की बात है कि

जिस योद्धा ने विधर्मियों के दांत खट्टे कर दिये थे और अपने प्रचंड आक्रमणों के कारण सारे देश में 'उडणा' पृथ्वीराज के नाम से ख्याति पाई थी ; वह अपने ही सम्बन्धियों के हाथों अकाल मृत्यु मारा गया। आपस के द्वेष ने ही हमारे देश को बुरे दिन दिखाये, नहीं तो कौन नहीं जानता कि यहां के युद्धवीरों की तलवारों के तीखे पानी के सामने ठहरने की शक्ति किसी भी आक्रमणकारी में न थी।

उधर कुँवर सांगा जब सेवन्त्री गांव में अपने भाई जयमल के चंगुल से बच निकले और वीर राठौर बीदा ने अपने घोड़े पर चढ़ा कर उनके प्राणों की रक्षा कर दी। तब वे गुप्त वेष में गोडावर जाने के बाद एक गांव में एक गडरिये के घर रहने लगे। कुछ दिनों बाद भेद खुल जाने के भय से वे वहां से भी खिसक गये।। गुप्त वेष में ही उन्होंने इधर उधर घूम कर बहुत दिन काटे। फिर एक घोड़ा खरीद कर अजमेर के पास स्थित श्रीनगर में आकर रहने लगे। वहां का अधिकारी परमार कर्मचन्द उन पर बहुत दयालु हो गया था।

एक दिन कुँवर संग्रामसिंह एक पेड़ के नीचे पड़े हुये सो रहे थे, उन्हें जगाने के लिये कुछ राजपूत साथी उनके पास आये। वहां पहुँचकर उन्होंने जो दृश्य देखा, उससे वे लोग आश्चर्य चकित रह गये। एक बड़ा भयंकर काला विषधर नाग अपना फण फैलाये सांगा के सिर पर छाया कर रहा था। पहले भी उन्हें अनेक बार यह शंका हुई थी कि यह युवक कोई

असाधारण पुरुष है। सांगा का सुगठित शरीर, भरा हुआ चेहरा, बड़ी बड़ी आकर्षक आंखें (एक आंख गायब), आजानु भुजायें विशाल वक्षस्थल, गेहुआं रंग, तेजस्वी मुख कान्ति, प्रभावोत्पादक भाव भङ्गिमा, उदात्त चेष्टायें, गम्भीर कण्ठ स्वर तथा युद्ध सम्बन्धी विचित्र योजनायें वहां के राजपूतों को मुग्ध किये हुये थीं। परन्तु आज की घटना से तो उन्हें निश्चय ही हो गया कि यह अवश्य कोई राजपुत्र है। उन्होंने यह बात कर्मचन्द से भी कही। परमार कर्मचन्द के पूछने पर पहले तो सांगा ने टाल देने की चेष्टा की, परन्तु कर्मचन्द के सद्व्यवहारों के कारण सांगा को अपना भेद उनसे छिपाने की इच्छा न हुई। उन्होंने कह ही दिया—"मैं सांगा हूँ!" कर्मचन्द चकित हो बोल उठे—"सांगा!" साथी राजपूतों ने कहा, "सांगा!" गांव के लोगों के मुख से निकला—"सांगा!" और गली कूचे, हाट बाजारों में भीड़ लग गई वहां के निवासियों की। झुण्ड के झुण्ड के लोग आने लगे सांगा को देखने के लिये। एक देखता, तो दूसरे की ओर घूम कर फुसफुसा देता—"वह है सांगा—मेवाड़ का राजकुमार संग्रामसिंह!" और "सांगा सांगा" केवल इसी नारे की धूम मच गई चारों ओर उस नगर में।

उधर महाराजा रायमल अपने दो पुत्रों पृथ्वीराज और जयमल के मारे जाने के कारण रात दिन बहुत दुःखी रहा करते थे। संग्रामसिंह का उन्हें कोई पता न था। उनके अज्ञात वास के कारण उन्होंने अपने छोटे पुत्र जेसा को चित्तौड़ का

उत्तराधिकारी नियत कर दिया। परन्तु महाराणाजी का मन रह रहकर सांगा के लिये बेचैन हो उठता और वे हर समय यही सोचा करते कि किसी तरह संग्रामसिंह का कहीं पता लग जाता। यवनों का मान मर्दन करने की शक्ति पृथ्वीराज में थी या सांगा में। एक की मृत्यु हो चुकी थी और दूसरे का उन्हें कोई पता ही न था। अत्यन्त निराश होकर महाराणाजी ने दान पुण्य आदि सत् कार्यों में अपने शेष दिन बिताने शुरू कर किये। यवनों ने आक्रमण करके श्रीएकलिंगेश्वर जी के विशाल मन्दिर को बहुत हानि पहुंचाई थी, महाराजा ने उसका पुनरुद्धार सूत्रधार अर्जुन के द्वारा कराया और कई गांव उस मन्दिर के साथ लगा दिये। फिर अपने गुरु गोपाल भट्ट को प्रहाण और धूर गांव भेंट किये। एकलिंगेश्वर मन्दिर को प्रशस्ति के लेखक को रतनखेड़ा गांव पुरस्कार में दिया। राम, शांकर और समयासंकट नामक तालाब बनवाये। अर्थशास्त्र के अनुसार निःसन्तान और सम्बन्धी विहीन मरने वालों का धन राजकोष में जमा करने की आज्ञा होती है, किन्तु महाराणा जी ने ऐसा धन राजकोष में न लेकर दरिद्र और कङ्गालों में बांटने की आज्ञा दी। प्रजा हित के लिये उन्होंने बहुत से कार्य किये।

महाराणाजी के दान-पुण्य और सत्-कार्यों के फल स्वरूप ही मानों एक दिन उन्हें समाचार मिला कि सांगा जीवित हैं और अमुक गाँव में रहते हैं। सुनते ही वे आनन्द विभोर हो उठे और शीघ्र ही उन्होंने अपने मन्त्रियों को आज्ञा दी कि तुरन्त जाकर

कुँवर संग्रामसिंह को ससम्मान यहां ले आओ और उनके आश्रय दाता कर्मचन्द को भी साथ लिवा लाओ। यथा समय कुँवर सांगा और कर्मचन्द को लेकर सब लोग चित्तौड़ आये। महाराणा रायमल ने मुद्दत से बिछुड़े हुए अपने पुत्र को देखते ही हृदय से लगा लिया और कर्मचन्द को एक बड़ी जागीर देकर सम्मानित किया।

महाराणा रायमल को अपना निश्चय बदलना पड़ा और जैसा कि जगह संग्रामसिंह को चित्तौड़ का उत्तराधिकारी बनाया। महाराणाजी खोये हुए सांगा को पाकर खुश तो बहुत हुए, किन्तु पृथ्वीराज और जयमल जैसे महारथी पुत्रों की याद रह-रह उन्हें उद्विग्न कर दिया करती थी। विशेषतः पृथ्वीराज की वीरता का चित्र रह-रहकर उनकी आंखों के आगे घूम जाता था। इससे उनके स्वास्थ्य पर भी काफी प्रभाव पड़ा और वे दिनों दिन दुर्बल होते चले जा रहे थे। महारानी भी अपने पति की अवस्था देखकर चिंतित हो उठीं। अपने दो पुत्रों का दुःख तो उन्हें पहले ही से था, अब पति की अस्वस्थता उन्हें और भी अखरने लगी। महाराणा रायमल की कई रानियां थीं। पृथ्वीराज, जयमल और संग्रामसिंह की माता हलबत के शासक राजधर बाघावत की पुत्री थी। यह महाराणा की पट-रानी थी। उन्हें दुःखी देखकर तो महाराणा जी का दुःख और भी बढ़ गया। इस प्रकार दोनोंही एक-दूसरेके लिये दुःखी रहने लगे

अन्त में ज्येष्ठ सुदी ५, संवत् १५६६ वि० को ३६ वर्ष राज्य करने के उपरान्त महाराणा रायमल ने इहलौकिक लीला समाप्त

कर परलोक जाने की तैयारी की। अपने शासन-काल में हिन्दू-धर्म की रक्षा के लिये उन्होंने अनेक बार युद्ध में विधर्मियों की प्रबल सेनाओं का सर्व-संहार किया। महाराणा की देह-त्याग से हिंदुओं को जो दुःख हुआ, उसका वर्णन करना कठिन है। मुसलमानों को उनकी मृत्यु से हार्दिक प्रसन्नता हुई, क्योंकि हिन्दुओं में चित्तौड़ का सिंह महाराणा रायमल ही उनका गर्व-खर्व करने वाले थे। यद्यपि आज वे हमारे बीच विद्यमान नहीं है, किन्तु हिन्दू-धर्म, हिन्दू-संस्कृति, सभ्यता और समाज की रक्षा के लिये महाराणाजी ने जो कार्य किये, उनसे यश उसका आकाश में फैलकर चारों ओर प्रसिद्ध हो गया। उनका नाम सदा अमर रहेगा।

नवम्-परिच्छेद

महाराणा संग्रामसिंह

महाराणा रायमल की मृत्यु के उपरान्त, सन् १५०६ ई० में इनके तीसरे पुत्र संग्रामसिंह चित्तौड़ के सिंहासन पर बैठे। इनका असली नाम संग्रामसिंह तथा उपनाम सांगा था। ये बड़े पराक्रमी एवं राजनीतिज्ञ शासक थे। उनके राजत्व-काल में भी मेवाड़ की जैसी उन्नति हुई, उसका वर्णन राजस्थान के इतिहास में बड़ी अपूर्वता से किया गया है। महाराणा संग्रामसिंह को यदि अपने समय का छत्रपति कहा जाये, तो कोई अत्युक्ति न होगी।

प्रायः सभी देशों के राज उनका लोहा मानते थे। उनके राज्याभिषेक के समय दिल्ली में सिकन्दर लोदी, गुजरात में महमूदशाह बेगड़ा और मालवे में नासिरशाह खिलजी राज्य करते थे। माण्डू के सुल्तान कई युद्धों में मेवाड़ से हारकर भाग चुके थे और गुजरात के शाह महाराणा-वंश का लोहा मानते थे तथा दिल्ली का राज्य उन दिनों बहुत ही शोचनीय अवस्था में हो रहा था। उसके तहसीलदार जब कर उगाहने के लिये किसी गांव में जाते तो वहां के लोग दिन-दहाड़े उनको मार डालते। प्रत्येक हिन्दू इन विदेशी एवं विधर्मी आक्रमणकारियों को घृणा और तिरस्कार युक्त दृष्टि से देखता था। महाराणा संग्रामसिंह के राज-तिलक के समय तीनों यवन शासकों ने अनेक बहु-मूल्य वस्तुयें उन्हें भेंट में भेजी थी। बहुत से हिन्दू नरेश और सरदार, जागीरदार और किलेदार, मुसलमान अमीर और शाहजादे महाराणा को सिर झुकाने उस समय चित्तौड़ आये थे।

परमार कर्मचन्द को, जिसने आपत्ति के समय संग्रामसिंह की रक्षा की थी और उन्हें अपने यहाँ आश्रय दिया था, महाराणा रायमल ने एक बड़ी जागीर देकर उसे सम्मानित किया था। परन्तु संग्रामसिंह ने उसे पर्याप्त न समझकर गद्दी पर बैठने के एक वर्ष बाद ही अजमेर, पर्वतसार, माण्डल, फूलिया और बनेड़ा आदि पन्द्रह लाख रुपये वार्षिक-आय के परगने जागीर में देकर उसका बहुत सम्मान किया और रावत की पदवी भी उसे दी।

पुराने ज़माने में जागीर देने की यह प्रथा भी बहुत घनिष्ठ कारी थी। इसी रीति ने आगे चलकर भारत के एकछत्र राज्य को अनेक छोटे २ राज्यों में विभाजित कर दिया। उन दिनों के शासक, यद्यपि अपने हितैषी व शुभ चिन्तकों का मान बढ़ाने के लिये ही बड़ी २ जागीरें उन लोगों को दे दिया करते थे किन्तु शायद इस कटु-सत्य को भूल जाते थे कि ऐसा करने से साम्राज्य की एक-सूत्रता एवं संगठित-शक्ति नष्ट हो जाती है। सारे देश की रक्षा का सामुहिक उत्तरदायित्व भूलकर वे रजवाड़े अपने २ प्रदेश को ही अपनी सीमायें मान लेते हैं। जब विधर्मियों के आक्रमण का समय उपस्थित होता है, तब सामूहिक रूप से युद्ध करना तो दूर रहा—प्रत्येक रज बाड़े को अपनी अपनी रक्षा करने में ही अपनी पूरी शक्ति लगा देनी पड़ती है। यदि समय पड़ने पर सब हिन्दू राजा एक होकर एक साथ आक्र.ण कारी पर टूट पड़ें, तो कोई कारण नहीं कि वे अपने शत्रू को नीचा दिखाकर देश की पवित्र भूमि पर से उनका अस्तीत्व ही न मि.। दें। किन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा होता नहीं, क्योंकि उस समय सबको अपनी-अपनी चिन्ता ही रहती है। धूर्त आक्रमणकारी भी सबसे एक-बारगी ही युद्ध न छेड़कर धीरे-धीरे एक-एक को अपने क़ाबू में करते हैं। सर्व प्रथम जब सिन्ध पर आक्रमण हुआ, तब और सब हिन्दू नरेश बेखबर सोये पड़े थे। सिन्ध का हिन्दू राजा दाहर संवत् ७६८ वि० में अकेला ही कुछ राजपूतों को लेकर युद्ध स्थल में कूद पड़ा और मुहम्मद बिन क़ासिम की

विशाल यवन-सेना को मारता-काटता स्वयं भी वीरगति को प्राप्त हो गया। यदि उस समय सब हिन्दू नरेश एक साथ मिल कर दाहर की सहायता करते, तो उन विधर्मियों का सिन्ध पर अधिकार करना तो दूर रहा—आगे बढ़ने का साहस कदापि न होता। आपस की फूट और हिन्दुओं की बेखबरी से लाभ उठाकर ही मुहम्मद-बिन-क़ासिम को मेवाड़ तक बढ़ने का साहस हुआ। संवत् ७७० वि० के लगभग उसने मेवाड़ पर चढ़ाई की थी, किन्तु बाप्पा रावल की तलवार के आगे उसे सिर झुकाना पड़ गया और अपनी कन्या का विवाह बाप्पा के साथ करने के बाद ही वह खुरासान की ओर भाग गया।

ईडर राज्य के अधिकारी राव भाण के दो पुत्र थे, सूरजमल और भीमसिंह। राव भाण के बाद उसका बड़ा पुत्र सूरजमल गद्दी पर बैठा, किन्तु अट्ठारह मास राज्य करने के उपरान्त उसकी भी मृत्यु हो गई। तब सूरजमल का पुत्र रायमल ईडर का अधिकारी बना। पर वह छोटा होने के कारण शासन करने योग्य नहीं था। अतः उसके चाचा भीमसिंह ने उसे गद्दी से उतार कर स्वयं वहां का शासन-भार अपने ऊपर ले लिया। पहले ईडर और मेवाड़ के बीच अच्छे सम्बन्ध थे, किन्तु भीमसिंह ने गद्दी पर बैठते ही गुजरात के सुलतान मुजफ्फरशाह की अधीनता स्वीकार कर ली। वास्तव में भीम उसी के प्रोत्साहन देने पर ईडर-राज्य हस्तगत करने में सफल हुआ था। रायमल अपनी जान बचाकर महाराणा सांगा की शरण में आ गया।

महाराणा जी ने उसका यथोचित सम्मान किया और अपनी पुत्री की सगाई भी उसके साथ कर दी। महाराणा को रायमल एक होनहार युवक मालूम हुआ। कुछ दिनों बाद भीम का भी देहान्त हो गया और उसकी जगह उसका पुत्र भारमल ईडर की गद्दी पर बैठा। उसने भी अपने पिता का अनुसरण किया और गुजरात की संरक्षता में रहना स्वीकार कर लिया। महाराणा के हृदय में इस प्रकार एक हिन्दू राज्य का मुसलमानों के आधीन होना शूल की तरह चुभने लगा। समय पाकर उन्होंने अपनी सेना सहित रायमल को ईडर पर चढ़ाई करने के लिये भेज दिया। रायमल वहां की गद्दी छीनने में सफल हो गया।

सन् १५१४ ई० में गुजरात का सुलतान मुजफ्फरशाह जब महमूदाबाद आया तो उसे यह जानकर बड़ा दुख हुआ कि महाराणा सांगा की कृपा से ईडर उसकी अधीनता से निकल गया है। उसने अहमदनगर के जागीरदार निजामुल्मुक को पुनः ईडर पर अधिकार करने के लिये भेजा। निजामुल्मुक ने एक बड़ी सेना लेकर ईडर के चारों ओर घेरा डाल दिया। रायमल ने ईडर छोड़ कर पहाड़ों से घिरे हुए बीसलनगर (बीजानगर) में अपना डेरा डाला। निजामुल्मुक बीसलनगर को भी घेरने के लिये भी आगे बढ़ा। किन्तु पहाड़ों की तँग घाटियों में उसे करारी हार खानी पड़ी। निजामुल्मुक के सिवाय उसके सब सैनिक मारे गये। गुजरात की सेना का

सर्व संहार कराने के बाद निजामुल्मुक अपनी जान लेकर भाग गया।

सुलतान अपने सेनापति की भीरुता और कायरता से रुष्ट होकर उसके ऊपर बहुत बिगड़ा और उसके स्थान पर मलिक हुसेन बहमनी को सेनापति बनाकर १० हजार सेना के साथ फिर ईडर की ओर भेजा। सुलतान ने उसे प्रोत्साहन देने के लिये मुबारिजुलमुक की उपाधि से भी उसे विभूषित किया। मलिक हुसेन जो वास्तव में निरीह प्रजा को लूटने और हिन्दुओं को सताने के कारण सुलतान की आंखों में बहुत चढ़ गया था, अपने स्वामी द्वारा इस प्रकार सम्मानित होकर तो उसके दिमाग और भी आकाश में जा लगे और वह बड़ी शान से अकड़ता हुआ सेना लेकर ईडर की ओर चल दिया। उसके आने की सूचना पाकर रायमल ने महाराणा जी के पास दूत भेजकर कहला दिया कि इस बार शत्रु को जीतना जरा टेढ़ी खीर है। १० हजार सेना होने के कारण मुसलमानों की शक्ति बहुत बढ़ी हुई है अतः आपकी सहायता जरूर पहुंचनी चाहिये महाराणा जी ने उत्तर में कहला भेजा—निर्भय हो कर युद्ध करो। मुसलमान मच्छर के तुल्य हैं कठिन उन्हें मार भगाना कोई काम नहीं। और इसके बाद ही अपने आश्रित राज्य के पुनरुद्धार के लिये महाराणा स्वयं ४० हजार घुड़ सवारों की सेना लेकर ईडर की ओर चल दिये। महाराणा इस विशाल सेना के साथ सिरोही होते हुए वागड़ जा पहुंचे और वहां का राजा उदयसिंह

भी अपनी सेना को लेकर उसके साथ आ मिला। महाराणा को स्वयं दल बल सहित आता हुआ देखकर मलिक हुसेन के हाथों के तोते उड़ गये और उसने सुलतान को शीघ्र सहायता के लिये और सेना भेजने को लिखा। मुजफ्फरशाह नगर की रक्षा का भार किवामुल्मुक को सौंप कर तुरन्त मुहम्मदाबाद पहुंचा और अपने मन्त्रियों से परामर्श करके और सेना भेजने का प्रबन्ध करने लगा, किन्तु उसके मन्त्रियों ने महाराणा सांगा के साथ युद्ध न करने की उसे राय दी और वे बात बात में उसे टालते ही रहे। इतने में उधर महाराणा की प्रबल सेना ने सर्व संहार करना शुरू कर दिया और देखते देखते सारी यवन सेना काट कर भूमि पर बिछा दी गई। मलिक हुसेन जो मुबारिजुलमुल्क बना अभिमान के नशे में चूर हो रहा था; अपनी दस हजार सेना का संहार कराने के बाद अहमदनगर भाग गया।

महाराणा सांगा ने ईडर की गद्दी पर बड़े सम्मान सहित रायमल को पुनः बैठाया और नाना प्रकार की युक्ति प्रयुक्तियां तथा राजनीति के दांव पेच बतला कर उसे एक कुशल शासक बना दिया। ईडर का भली प्रकार प्रबन्ध करने के बाद महाराणा ने अहमदनगर की ओर प्रस्थान किया। शीघ्र ही वहां पहुँच कर किला घेर लिया गया। दोनों ओर की सेनायें मैदान में आ डटीं और मार काट शुरू हो गई। नगर का किला बहुत मजबूत था। लोहे के दरवाजों में बड़े बड़े नोकदार भाले लगे

हुए थे। भालों के भय से हाथी आगे न बढ़ पाते थे। परिणामतः किले का दरवाजा टूटने में बहुत विलम्ब हो रहा था। बागड़ के एक प्रसिद्ध सरदार डूंगरसिंह चौहान ने इस युद्ध में बड़ी वीरता दिखाई। लड़ते लड़ते वह बुरी तरह घायल हो गया था। उसके कई भाई और बेटे मारे जा चुके थे। उसके पुत्र कान्हसिंह ने जिस अपूर्व वीरता का प्रदर्शन किया, वह आश्चर्य चकित कर देने वाली चीज थी। किले के दृढ़ कपाटों को तोड़ने के लिये जो भी हाथी आगे भेजे जाते; भालों के भय से वहीं वापस लौट आते। इस बाधा को दूर करने के लिये ही कान्हसिंह में बलिदान की भावना का उदय हुआ। वह रण बांका चौहान वीर भालों के आगे छाती तान कर खड़ा हो गया और महावतको संकेत कर बोल उठा—"बढ़ाओ हाथी।" अँकुश पड़ते ही हाथी चिङ्घाड़ उठे और कान्हसिंह का लक्ष्य बनाकर पूर्ण वेग से उन्होंने अपने मस्तक की टक्कर द्वार में मारी। कान्हसिंह की देह क्षत विक्षत होकर भालों में झूल गई और हाथी के मस्तक से रक्त की धारायें बह निकलीं, किन्तु साथ ही दोनों कपाट भी चर्रा कर पीछे को गिर पड़े। फिर क्या था, महावीर कान्हसिंह ने अपना बलिदान कर राजपूत सेना का मार्ग साफ कर दिया। हजारों की संख्या में हिन्दू वीर नंगी तलवारें सूँते हुये किले के भीतर घुस गये और सारी यवन सेना को काट कर धरती की गोद में सुला दिया। किले पर महाराणा जी का अधिकार होगया। बहुत सा माल असबाब, हाथी, घोड़े, ऊँट और युद्ध

सामग्री महाराणा जी के हाथ लगी। महाराणा ने डूँगरसिंह चौहान को उसकी, उसके सम्बन्धियों की तथा उसके वीर पुत्र कान्हसिंह की अद्भुत वीरता के उपलक्ष में एक बहुत बड़ी जागीर प्रदान की। इस युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद महाराणा चित्तौड़ लौट आये।

उपरोक्त युद्ध के बाद गुजरात का सुलतान मुजफ्फरशाह इतना डर गया कि बहुत दिनों तक फिर वह महाराणा के विरुद्ध सिर न उठा सका। इसके बाद महाराणा जीने दिल्ली के इलाके में आक्रमण करने शुरु किये। सन् १५१७ ई० में सिकन्दर लोदी के मरने पर उसका बेटा इब्राहीम लोदी दिल्ली का बादशाह हुआ। वह अपने पिता सिकन्दर लोदी से कहीं अधिक निर्भय और उद्दण्ड स्वभाव का था। उसने जब महाराणा सांगा के बढ़ते हुए प्रभाव को देखा, तो सन् १५१८ ई० में एक बड़ी फौज लेकर मेवाड़ पर उसने चढ़ाई कर दी। महाराणा मानों पहले उसकी प्रतीक्षा में थे। उन्होंने तुरन्त अपनी विजय-वाहिनी सेना को सजाकर हाड़ौती की सीमा पर खतोली गांव के पास इब्राहीम लोदी को आ घेरा। महाराणा जी अपनी सेना का नेतृत्व स्वयं कर रहे थे। युद्ध भीषण रूप धारण करके भी प्रायः एक पहर में ही समाप्त हो गया और हजारों मुसलमान सैनिक देखते-देखते मौत के घाट उतार दिये गये। सुलतान बचे हुए सिपाहियों को लेकर अपनी जान बचाकर वहां से भाग गया। उसका एक बेटा पकड़ कर कैद कर लिया गया। इस युद्ध में स्वयं महाराणाजी ने

ऐसी वीरता और बिजली जैसी तेजी से काम किया कि सब लोग चकित रह गये। लड़ते-लड़ते महाराणा सांगा का बाया हाथ तलवार से कट गया और एक तीर लगने से एक पाँव भी सदा के लिये लंगड़ा हो गया, फिर भी विजय श्री उन्हीं को मिली।

दूसरी बार पुनः इब्राहीम लोदी ने एक बहुत बड़ी फौज एकत्रा करके मेवाड़ पर चढ़ाई की। इस बार उसने अपने चुने-चुने सरदार को साथ लेकर मियां माखनखां को सेनापति बनाया था। युद्ध होने के पूर्व ही एक सरदार जिसका नाम हुसेनखां था, एक हजार दृढ़ सवारों को लेकर महाराणा सांगा से जा मिला। पहले तो महाराणाजी ने उस पर विश्वास नहीं किया, किन्तु जब उसने सुलतान और माखनखां के विरुद्ध अनेक बातें कह कर उन के साथ लड़ने का वायदा किया तो उसे महाराणा जी ने अपनी ओर मिला लिया। उसने बताया कि इस बार शत्रु पक्ष में तीन हजार घुड़सवार और तीस सौ हाथी हैं महाराणाजी ने अपनी सेना को तैयार होने की आज्ञा दी और स्वयं भी चटपट तैयार होकर सेना सहित लड़ने चल दिये। मियाँ माखन ने अपनी सेना को इस तरह जमाया कि सात हजार सवारों सहित फुरतखां, सैयदखां और हाजीखां दाहिनी ओर; तथा दौलतखां, अल्लादादखां और युसुफखां बाई ओर भेजे गये। दोनों ओर की सेनाओं के आमने-सामने डटते ही युद्ध आरम्भ हो गया। हिन्दू-वीरों ने बढ़-बढ़कर अपनी तलवारों से यवनों के सिर काटने शुरू किये। देखते-देखते मुसलमानों की

तीस हजार फौज काट डाली गई और दिल्ली का सुलतान इब्राहीम लोदी इस बार भी बुरी तरह से हार दिल्ली भाग गया। इस युद्ध में महाराणाजी को मालवे का कुछ भाग, जिसे सिकन्दर लोदी ने जीतकर अपने कब्जे में किया था, मिला। इब्राहीम लोदी को दो बार युद्ध कर के भी बुरी तरह से हार खानी पड़ी। फिर वह शर्म से अपना मुँह न उठा सका।

इसके बाद महाराणा सांगा ने मालवा और गुजरात की संयुक्त सेनाओं को करारी हार दी। महमूद पकड़ा गया और तीन महीने कैद में रहने के बाद माफी मांग कर छूटा। महाराणा सांगा 'हिन्दू-सूर्य' के नाम से पुकारे जाते थे। वे जब तक जीवित रहे, हिन्दुओं की बिखरी हुई शक्ति को बटोर कर उसका प्रयोग सदा हिन्दू-धर्म की रक्षा में करते रहे। उनके राज्य की सीमा उत्तर में बीना के पास पीलाखाल नदी, पूर्व में सिन्धु, दक्षिण में मालवा और पश्चिम में अरावली पर्वत माला थी। उन्होंने दिल्ली, मालवा और गुजरात के सुलतानों से १८ बार युद्ध किया और हर बार विजय ही प्राप्त की। उस समय के कवियों ने हाराणा सांगा की अपूर्व वीरता का वर्णन इस प्रकार किया है—

इब्राहीम पूरब-दिशा न उलटै, पछम मुदाफर न दे पयाण।
दखणीमहम दसाहन दौड़े, साँगो दामण त्रहुं सुरताण॥

अर्थात्—पूर्व में इब्राहीम लोदी नहीं बढ़ सकता, पश्चिम-दिशा में मुजफ्फर आगे नहीं बढ़ सकता और महमूद दक्षिण की ओर से आगे नहीं बढ़ सकता, क्यों कि सांगा (१ राणा सांगा, २बछा)

ने तीनों सुलतानों का दमन कर दिया है।

राजस्थान के कवि बांकी दास क्या कहते हैं:—

सिर माण्डव गुजरात फिर, दल सफ्त की दी दौड़।
उण सांगा रो बैसणो, चंगो गढ़ चित्तौड़॥

अर्थात्—माण्डू और गुजरात के सुलतानों पर सेना सजा-सजा कर जिण राणा सांगा ने चढ़ाइयां की उसी बलशाली राणा की चित्तौड़ राजधानी थी। और:—

भई चितगढ़ और सूं तूं गंजियो न जाये।
भीतर ज्यों मन भावणों बाहर जिकां बलाये॥

अर्थात्—ऐ चित्तौड़ गढ़ तू दूसरों से तोड़ा नहीं जा सकता। तू भीतर से सुन्दर और बाहर से आफ़त का पर काला है। महाराणा सांगा ने अपने युद्ध-कौशल से मुसलमान आक्रमण कारियों को किंकर्तव्य-विमूढ़, तेजहीन, असमर्थ, डरपोक, अधीर बलहीन तथा शस्त्र ज्ञान-हीन कर दिया, जिससे उन में हिन्दू-धर्म विरुद्ध आचरण करने की शक्ति न रही।

महाराणा सांगा जहां वीर-शिरोमणी, उत्साही सैन्य संगठन करने में निपुण और हिन्दू धर्म के सच्चे रक्षक थे, वहां पुत्र वत प्रजाका पालन करने में भी वे सदा तत्पर रहते थे। एक बार देश में बड़ा भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। लोग वृक्षों की छाल और घास उबाल कर खाने लगे। एक दिन जब महाराणा भोजन कर रहे थे तो शाक की कमी होने के कारण रसोइयेने बताया कि देश भर में अकाल पड़रहा है और प्रजा के लोग भूख से तड़फ रहे हैं।

महाराणा यह सुन कर बड़े दुःखी हुए। उन्होंने कहा कि प्रजा के कष्टकी बात मुझसे क्यों न कही गई। यदि प्रजा पत्तियाँ और घास खाती है, तो मैं किस तरह उत्तमोत्तम भोजन कर सकता हूँ और उन्होंने आज्ञा दी कि जब तक दुर्भिक्ष न मिट जाये, मेरे लिये भी वृक्षों की छाल और पत्तियां ही उबाली जाया करें। इस प्रतिज्ञा के अनुसार महाराणाने तीन-चार मास तक उबले हुए पत्ते और छाल ही खाई।

महाराणा संग्रामसिंह के सात पुत्र थे, दो अल्प अवस्था ही में मृत्यु को प्राप्त हुए। महाराणा सांगा के स्वर्गारोहण के पश्चात् उनके तीसरे पुत्र रत्नसिंह चित्तौड़ के महाराणा बने। सिंहासन पर बैठते ही उन्होंने घोषणा की कि चित्तौड़गढ़ का द्वार सदा खुला रखा जाय। महाराणा ने अम्बर-नरेश की पुत्री के साथ गुप्त विवाह किया था। पृथ्वीराज इस भेद से सर्वथा अनभिज्ञ थे। उन्होंने हाड़ा वंशीय सरदार सूरजमल के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। जब महाराणा को ज्ञात हुआ तो उनके हृदय को बहुत कष्ट पहुचा। राजा सूरजमल की बहन महाराणा के साथ ब्याही हुई थीं, इसलिये उन्हें कुछ न कह सके। परन्तु उनके मनमें प्रतिहिंसा की आग सुलगनी शुरू हो गई। कुछ दिनों बाद "आहोरिया" का विजयोत्सव मनाने के लिये वे अपने साथी राजपूतों को लेकर भीषण आरण्य में गये। सूरजमल यद्यपि महाराणा के आधीन नहीं थे, परन्तु महाराणा को बड़ा समझ कर वे प्रायः ऐसे उत्सवों में उनके

साथ अवश्य रहा करते थे। इस "आहोरिया" में भी वे अपने सामन्तों को लेकर उनके साथ आखेट करने गये। महाराणा को एकान्तवास देखते ही बदला लेने की इच्छा हुई। दोनों में युद्ध हुआ और दोनों ही लड़ते लड़ते मारे गये।

महाराणा रत्नसिंह के एक ही पुत्र था, जो किसी अपराध के कारण महाराणा की आज्ञा से १५ व १६ वर्ष की आयु में फांसी पर लटवा दिया गया था। महाराणा संग्रामसिंह ने अपने समय में गुजरात और मालवा के सुलतानों को अनेक बार युद्ध में पराजित किया था, उससे वे दोनों बहुत दुःखी होकर सदा मेवाड़ को नीचा दिखाने की ताक में रहा करते थे। महाराणा रत्नसिंह के शासन काल में जब सामन्तों और सरदारों के बीच कुछ मनोमालिन्य हुआ, तो उन दोनों म्लेच्छों ने अपनी अपनी सेनायें सजाकर चित्तौड़ पर चढ़ाई कर दी। महाराणा इस आक्रमण से कुछ चिन्तित हो उठे, किन्तु उनके मंत्रियों ने उन्हें आश्वासन देते हुये कहा—"परस्पर का विरोध हमें म्लेच्छों डरा नहीं सकता, रणभेरी बजाई जाय।"

महाराणा रत्नसिंह ने मेवाड़ की रक्षा के लिये सब सामन्तों और सरदारों को करालादेवी के मन्दिर में ठीक १२ बजे रात को एकत्र होने की आज्ञा दी। निश्चित समय पर सब सरदार और सामन्तगण मन्दिर में जाकर उपस्थित हो गये, परन्तु जिस समय बारह का घंटा बजा, युवराज वहां अनुपस्थित थे। उनका एक भील कन्या के साथ प्रेम था, इसीलिये वे उससे मुलाकात

करने चले गये थे, कि इतने में इधर घंटा बज गया। घंटा बजते ही सरदारों के बीच काना फूसी होने लगी कि युवराज अभी तक नहीं आये। यदि हम लोगों में से कोई समय पर न आता। तो देश द्रोही कहलाता और उसे फांसी पर लटका दिया जाता जब महाराणा जी ने सब सरदारों की उपस्थिति ली तो एक सरदार ने खड़े होकर ताना मारते हुये कहा कि सब तो आ गये, पर युवराज ही अभी तक नहीं आये। महाराणा बहुत क्रुद्ध हुए और उन्होंने फांसी तैयार करने की आज्ञा दी। मन्त्रियों ने राय देते हुये कहा कि ऐसा करने से महाराणा वंश का प्रदीप बुझ जायगा। महाराणा जी अपने निश्चय से एक पग भी इधर उधर न हुए और दृढ़ गम्भीर शब्दों में बोले—कायदा कानून सबके लिये बराबर होता है यदि कोई दूसरा होता तो उसे भी राजाज्ञा न मानने के अपराध में फांसी पर ही लटकाया जाता। युवराज बारह का घंटा सुनते ही भील कन्या के पास से दौड़कर मन्दिर में जा पहुंचे थे और उन्हें कुछ ही मिनटों का विलम्ब हुआ था। लोगों ने उन्हें देखते ही बताया कि वे तो यहां उपस्थित हैं। किन्तु महाराणा जी बोले समय पर न आने के कारण फांसी अवश्य दी जायेगी। महाराणा का विचार दृढ़ देखकर मन्दिर में भील कन्या के साथ कच्चे बांसों से युवराज का विवाह कराया गया और दूसरे दिन उन्हें न्याय के नाम पर फांसी दे दी गयी।

महाराणा रत्नसिंह के और कोई पुत्र न होने के कारण

उनके भाई बिक्रमादित्य मेवाड़ के महाराणा बने। इनके शासन काल में गृह कलह की ज्वाला बड़े जोर से भड़क उठी थी। भील भी उनसे असन्तुष्ट रहने लगे थे। गुजरात के सुलतान ने अच्छा मौका देख कर पुनः चढ़ाई कर दी। महाराणा उस समय बूँदी राज्य के जँगलों में शिकार खेलने गये हुये थे, वहीं उन पर आक्रमण किया गया। यद्यपि वे बड़ी वीरता से लड़े, किन्तु सैन्य बल अधिक न होने के कारण वे कुछ कर न सके। उनके साथ उस समय जो सरदार थे, वे भी स्वर्गीय महाराणा सँग्रामसिंह के छोटे पुत्र उदयसिंह की रक्षा के लिये चित्तोड़ चले आये। गुजरात का सुलतान महाराणा बिक्रमादित्य पर विजय प्राप्त कर चित्तौड़ आ धमका।

पिछले युद्धों में मेवाड़ की सेना के बहुत से राजपूत वीर मेवाड़ गौरव की रक्षा के लिये लड़ते हुए वीर गति को प्राप्त हो गये थे और अब चित्तोड़ में शूर श्रेष्ठों का एक तरह से अभाव सा हो गया था। परन्तु मेवाड़ को तो यह प्राचीन परिपाटी थी कि यदि देश में एक भी वीर बालक शेष रहेगा तो वह भी मातृभूमि के स्वाधीनता सँग्राम में अपने प्राण न्यौछावर कर देगा बिक्रमादित्य के समय जो राजपूत सरदार उनके आचरण से असन्तुष्ट हो गये थे, वे भी रणभेरी के बजते ही युद्धस्थल में जाने को लालायित हो उठे। मध्य भारत के यवन शासकों ने पहले जितनी बार भी चित्तौड़ पर चढ़ाई की उन सबसे यह चढ़ाई बहुत भयंकर थी। गुजरात का सुलतान

बहादुरशाह अपने साथ कई तोपें और फिरंगी गोलन्दाजों को लाया था। चित्तौड़ के देश भक्त वीर राजपूत इस युद्ध में बहुत कम सँख्या में थे, तब भी उन्होंने डटकर अपने शत्रु की प्रबल सेना का मुकाबला किया। यवनों की तोपें भीषण अग्नि वर्षा कर रही थीं। बहादुरशाह कई बार अपनी सेना को लिये हुये चित्तौड़ के सुदृढ़ दरवाजों तक पहुंचा किन्तु वीर राजपूतों ने उसे हर बार पीछे हटा दिया। देश भक्त राजपूतों ने अल्प संख्या में होते हुए भी मुसलमानों के छक्के छुड़ा दिये। युद्ध कई दिनों तक निरन्तर चलता रहा। धूर्त फिरंगी गोलन्दाजों ने एक नई युक्ति से काम निकाला। उन्होंने पहाड़ी के नीचे एक लम्बी सुरङ्ग खोद कर उसमें बारूद भर दी। सुरंग में आग लगते ही बड़ा भयानक शब्द हुआ और इस गगन भेदी शब्द के होते ही किले की पचास हाथ भूमि एक साथ उड़ गई। उसी जगह हाडा वंशीय वीर राजकुमार अर्जुन राव अपने पांच सौ वीर सैनिकों को लिये युद्ध कर रहे थे। धमाका होते ही सेना सहित भूमि में धँस गये। किले की दीवारों में जगह जगह अनेक छिद्र हो गये। जिस सुदृढ़ दुर्ग के भीतर मनुष्य तो क्या एक पक्षी भी पङ्ख नहीं मार सकता था, उसके भीतर यवन सेना प्रवेश करने को तैयार हो गई। वीरवर दुर्गाराव और दो चन्द्रावत सरदार अपनी थोड़ी सेना लेकर किले की रक्षा के लिये आ डटे। युद्ध ने भीषण रूप धारण कर लिया और देश भक्त राजपूतों ने यवनों को काट काट कर ढेर लगा दिया।

सन्ध्या समय युद्ध बन्द होने पर जब बहादुरशाह ने अपनी सेना की उपस्थिति ली तो उसे यह जान कर बड़ा भय लगा कि उसके सैनिक हजारों की संख्या में कट कर बहुत कम होगये थे, किन्तु उसका भय निराधार था—उधर राजपूत वीरों की संख्या भी बहुत कम हो गई थी।

दूसरे दिन बहादुरशाह ने किले के भीतर प्रवेश करने के लिये बहुत भारी प्रयत्न किया। छिद्रों के रक्षक वीर दुर्गाराव आदि युद्ध में काम आ चुके थे, इसलिये किले की रक्षा की चिन्ता समस्त चित्तोड़ में व्याप गई। दुर्ग की रक्षा का भार स्वयं चित्तोड़ की महारानी जवाहरबाई ने अपने ऊपर लेकर सब राजपूत सरदारों को द्वार पर लड़ने के लिये भेज दिया। जब यवन-सेना छिद्रों से होकर दुर्ग में प्रवेश करने के आगे बढ़ी, तो महारानी जवाहरबाई सिर के केश खोले, तलवार हाथ में लिये साक्षात रणचण्डी का रूप धारण कर कुछ राजपूत वीराङ्गनाओं के लेकर शत्रुओं पर टूट पड़ी और तृण के समान उन्होंने हजारों मुसलमानों को काटकर धरती पर बिछा दिया। खून की नदियें बह निकलीं और यवनों की सेना में हाहाकार मच गया। उन्होंने दूने उत्साह से आगे बढ़ कर महारानी की छोटी-सी टुकड़ी पर आक्रमण किया। उसी समय लोगों ने देखा कि एक भील कुमार पाँच सौ भील-बालकों की एक सेना को लिये घोड़े पर चढ़ा, बाणों की वर्षा करता चला आता था। पहले तो महारानी जो उसे शत्रु पक्ष का जान कर उद्विग्न हो उठी, परन्तु जब

नवागन्तुकों ने 'मेवाड़ की जय', 'बाप्पा रावल और शिशोदिय-कुल की जय' का तुमुल-नादकर अपने बाणों से शत्रुओं को मारना काटना आरम्भ किया तो महाराणीजी का उत्साह पहले से कई गुणा अधिक बढ़ गया और उन्होंने यवनों को काट-काट कर ढेर लगा दिये। दो तरफ़ की मार को शत्रु सह न सके। और भाग कर उन्होंने अपनी जान बचाई।

उस दिन का युद्ध महाराणीजी ने जीत कर जब चित्तौड़ में प्रवेश किया, तो मेवाड़ के वीर-राजपूतों ने देखा कि वह भील कुमार चित्तौड़ न आकर अपने साथियों को लिये हुए दूसरी ओर चला गया। महाराणी ने अपने आदमी भेजकर उस भील-कुमार को बुला भेजा। भील-कुमार ने आकर महाराणीजी के चरण छुए। महाराणीजी ने अपने हाथ से भील-कुमार के माथे में तिलक खींच दिया। उस समय तक उनके कोई पुत्र न था। महाराणी जवाहरबाई को जब यह मालूम हुआ कि कुमार महाराणा रत्नसिंह के पुत्र के वीर्य से उत्पन्न हुआ भीलनी का बालक है, सो उसे शिशोदिया वंश का समझ उनके हर्ष की कोई सीमा न रही। भील कुमार ने बताया कि अपने नाना ने यहां जब उसने सुना कि मातृ-भूमि चित्तोड़ पर शत्रुओं ने चढ़ाई की है; तो उसने अपने नानाजी से युद्ध में भाग लेने की आज्ञा मांगी। नाना ने कहा कि हम भील हैं, इसलिये हमें महाराणा की सेना में कोई उच्च-स्थान सामन्तरूप से नहीं मिल सकता। नाना की बात सुनकर कुमार उत्तेजित होकर बोला,—क्या चित्तोड़गढ़

केवल महाराणा का ही है ? जिस मनुष्य ने मेवाड़ में जन्म लिया है और उसका अन्न खाया है, उसका कर्त्तव्य है कि देश पर संकट आने से उस की रक्षा करे। नाना का हृदय अपने नाती की बात सुनकर बहुत आनन्दित हुआ और उसने पाँचसौ भील देकर कुमार को देश-रक्षा के लिये रणस्थल में भेज दिया। वीर-बालक ने महारानी जवाहरबाई की सहायता ठीक उस समय की जब कि उन्हें इसकी सख्त जरूरत थी।

पिछले दिन विजय प्राप्त कर महारानीजी पुनः दूसरे दिन अपनी सखी-सहेलियों और भील-कुमार को लेकर रणस्थल में जा डटी। उस दिन बहादुरशाह स्वयं हाथी पर चढ़कर चुने हुए सरदारों के साथ लड़ने गया। वीर-क्षत्राणी को देखकर उस का दिल टूट गया था, किन्तु पूरी तैयारी करने के कारण उसका साहस बढ़ा हुआ था। यवनों की विशाल सेना को देखकर महारानीजी अपनी छोटी-सी टुकड़ी को लेकर शत्रु सेना के बीच में घुस गई। बिसियों तलवारें उनके चारों ओर चमक उठीं; किन्तु घायल होकर भी वे बराबर युद्ध करती रहीं। अन्त में जब और कोई सहायता न मिली तो वीरता, दृढ़ता और त्याग का सच्चा आदर्श दिखा करके वीर गति को प्राप्त हुई।

उनके देह-त्याग करने के बाद मेवाड़ के शेष राजपूत-वीर केसरिया-वस्त्र धारण कर युद्ध स्थल में कूद पड़े और यवनों से लड़ते-लड़ते वीर गति को प्राप्त हुए। अपने सगे-सम्बन्धियों को रण में भेजकर चित्तौड़ की सब राजपूत-महिलायें प्रज्वलित

चिताओं में कूद पड़ी और विधर्मियों के अपवित्र हाथों में पड़ने के पूर्व ही उन्होंने 'जौहर-व्रत' का पालन कर अपने बहु-मूल्य सतीत्व की रक्षा की। इस युद्ध में चित्तौड़ के बत्तीस हजार वीरों ने स्वाधीनता की रक्षा के लिये अपने प्राणों की आहुति दी।

यह चित्तौड़ का दूसरा 'साका' माना जाता है। दिल्ली के बादशाह हुमायू ने चित्तौड़ का उद्धार करके पुनः बिक्रमादित्य को वहां का अधिकारी बना दिया और वह स्वयं मालवा और गुजरात के सुलतानों को हरा कर दिल्ली लौट गया।

दशम् परिच्छेद

महाराणा उदयसिंह व बनवीर

बिक्रमादित्य के पुनः चित्तौड़ के सिंहासन पर बैठने के कारण, मेवाड़ के सरदार व सामन्तगण असन्तुष्ट हो उठे। उन्होंने बिचार किया कि बिक्रमादित्य को गद्दी से उतार कर पृथ्वीराज की उप पत्नि के गर्भ से उत्पन्न हुए बनवीर को चित्तौड़ का शासक बनाना चाहिये। बनवीर पहले तो राजी न हुआ, किन्तु बाद में उसने स्वीकार कर लिया।

राजसिंहासन पर बैठते ही बनवीर के विचारों में परिवर्तन हो गया और वही बनवीर जो पहले वहां का अधिकारी बनने

में आना कानी कर रहा था, अब इस ताक में रहने लगा कि कैसे उदयसिंह को अपने मार्ग से हटा कर वह मेवाड़ का निष्कंटक महाराणा बन जाये। उदयसिंह की अवस्था उस समय केवल छः वर्ष की थी और उनके लालन पालन का भार खीची-वंशीया एक धाय के हाथ में था, जिसका नाम पन्ना था। राजपूत कुल में जन्म लेने के कारण वह स्वयं भी उच्च विचारों की एक वीराङ्गना धाय थी। उसने महाराणा वंश के प्राचीन वीरों का वर्णन सुन रक्खा था और बाप्पा रावल से लेकर महाराणा संग्रामसिंह तक के आदर्श वीर शिरोमणि महाराणाओं के गौरव पूर्ण जीवन चरित्रों का प्रभाव उसकी नस नस में छा गया था, इसीलिये वह धाय होते हुये भी निर्भीक थी।

एक दिन अकस्मात रात के समय राज भवन के भीतर कोलाहल सुनकर पन्ना आश्चर्य से चौंक उठी। पता लगाने पर उसे ज्ञात हुआ कि राज्य-लोभ के मतवाले बनवीर ने विक्रमादित्य का वध कर दिया है और अब महाराणा वंश के अन्य लोगों को मार कर वह बालक उदयसिंह को भी समाप्त कर देगा। सुनते ही पहले तो वह घबराई, किन्तु फिर शीघ्र ही उस स्वामी भक्त धाय ने मन ही मन अपना कर्तव्य स्थिर किया। राजपुत्र उदयसिंह को उठाकर उसने एक टोकरी में सुला दिया और ऊपर से कुछ वस्त्रादि डालकर उसने एक विश्वस्त भृत्य के हाथ महल के पीछे वाले मार्ग से उस टोकरी को दूर जंगल की ओर भेज दिया। भृत्य को महल से निकलने में कोई कठिनाई

नहीं हुई, क्योंकि द्वार पर स्वयं पन्ना धाय का पति ही पहरा दे रहा था। राजकुमार को सुरक्षित स्थान में पहुंचाने के बाद पन्ना ने बड़ी फुर्ती से राजकुमार के पलंग पर अपने पुत्र को सुला दिया, जिससे बनवीर को किसी तरह का सन्देह न हो। थोड़ी देर बाद बनवीर भी नंगी तलवार लिये धड़धड़ाता हुआ उस कमरे में आ पहुंचा और कड़क कर उसने पन्ना धाय से पूछा—"उदयसिंह कहां है ?" पन्ना ने कांपते हुये हाथों से पलंग की ओर संकेत कर दिया। दुष्ट बनवीर ने एक ही वार में उस अबोध बालक का सिर धड़ से अलग कर दिया, निर्मोही को तनिक भी दया नहीं आई। उसके जाने पर पन्ना ने एक बार जी भर कर अपने पुत्र के कटे हुए शव को देखा, दो बूंद स्नेह-अश्रु के ढुलक कर उसके वक्ष पर गिर पड़े। परन्तु उसने शीघ्र ही अपने आपको सम्भाल लिया और आवश्यक वस्तुओं की एक गठरी बांधकर उसने उस कमरे में आग लगा दी। इस बहाने अपने पुत्र की अन्त्येष्ठि क्रिया भी उसने अपने ही हाथों से कर डाली और भेद खुलने के भय से अपने पुत्र का शव उसी कमरे में फूंक कर गठरी उठा पन्ना अपने पति को साथ लेकर वहां से चल दी।

बेरिस नदी के किनारे, जहां पन्ना ने टोकरी लेकर उस भृत्य को ठहरने के लिये कहा था, पन्ना अपने पति को लेकर उससे जा मिली और वहां से वे लोग उदयसिंह को लिये हुए बाघाजी के पुत्र सिंहराव के पास पहुंचे। परन्तु बनवीर के भय से उन्हें

वहां नहीं ठहरने दिया गया। तब वे लोग डूंगरपुर के रावल यश करण के यहां गये, पर वहां भी वे न ठहर सके। आपत्ति पड़ने पर कोई किसी का साथ नहीं देता। कई दिनों तक पन्ना राज कुमार उदयसिंह को लिये हुये ईडर के आस पास जंगलों और पहाड़ों में घूमती रही, पर किसी ने उसकी बात न पूछी। वही मेवाड़ के महाराणा, जो दूसरों को जागीरें देकर उन्हें अपना सरदार बनाते थे, आज उनका वंशधर जगह जगह की ठोकर खाकर भी शरण पाने की भिक्षा मांग रहा था। बहुत दिनों बाद अन्त में कमलमीर दुर्ग के अधिकारी आशाशाह ने अपनी माता के समझाने बुझाने पर उदयसिंह को अपने यहां रखा। अपना भतीजा कह कर उन्होंने उदयसिंह के भेद को गुप्त ही रखा।

एक बार आशा कर्णं के यहाँ किसी उत्सव पर बहुत से राजपूत सरदार और सामन्तगण आये। उदयसिंह को देखकर उन्हें सन्देश हो गया कि यह उसका भतीजा हो ही नहीं सकता। उन्हीं के द्वारा यह समाचार चारों ओर फैल गया और मेवाड़ के सरदार व सामन्तगण उदयसिंह को देखने के लिये वहां आने लगे। चन्द्रवंशीय सालुम्बा नरेश साहीदास, कैलवापति जग्गो, कटोरिया और बेदला के चौहान आदि आ-आकर कमलमीर-दुर्ग में जमा होने लगे, एक विराट् सभा का आयोजन हुआ और सबकी उपस्थिति में पन्ना धाय ने राजकुमार उदयसिंह की रक्षा का सब वृतान्त कह सुनाया। पन्ना के पति और उस

भृत्य ने पन्ना के कथन का समर्थन किया। सबको पूर्ण विश्वास हो गया कि उदयसिंह स्वर्गीय महाराणा सांगा के ही पुत्र है। मेवाड़ के वृद्ध चौहान सरदार ने राजकुमार के साथ बैठकर भोजन किया और उस दिन से सबने उन्हें अपना भावी महाराणा स्वीकार किया यह बात उड़ते-उड़ते बनवीर के कानों में जा पहुंची, उस कपटी का हृदय एक-बारगी ही कांप उठा। थोड़े दिनों के बाद सोनगढ़-सरदार आखिलराय ने अपनी पुत्री का विवाह उदयसिंह के साथ कर दिया। विवाहोपरान्त महाराणा कुम्भ की राजसभा में चित्तौड़ के सब सरदारों ने उदयसिंह के माथे में राज-तिलक कर के उन्हें अपना महाराणा बना लिया। मेवाड़ के प्रायःसभी सरदार बनवीर के बढ़े हुए अत्याचारों के कारण उससे असन्तुष्ट रहाकरते थे। मेवाड़में प्रथा थी की राणाके थाल से दोना निकाल कर जिसे दिया जाता, उसके लिये वह बड़े सम्मान की बात समझी जाया करती थी। एक दिन बनवीर ने भी अपने थाल का दोना चण्ड के वंशधर सालुम्बाधिपति केपास भेजा, किन्तु उन्होंने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि हम लोग बापारावल के सच्चे वंशधर का ही दोना ले सकते हैं, दासी पुत्र का नहीं। इसी कारण जब राज सभा में बनवीर ने उनका अपमान किया तो सब सरदार एक बारगी ही उससे बिगड़ उठे। कमलमीर-दुर्ग में उदयसिंह को देखने के लिये जाते समय, बनवीर का कन्या के दहेज का जो सामान जा रहा था, वह सब उन सरदारों ने राह में ही लूट लिया और वह सब सामग्री उदयसिंह जी को उन्होंने भेंट

कर दी। बनबीर ने उदयसिंह के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर युद्ध की तैयारियें करनी शुरु कर दी। परन्तु उसके मन्त्री ने राजकुमार के पक्ष के एक हज़ार सैनिक नगर में घुसा दिये और उन सैनिकों ने तुरन्त ही आक्रमण कर, सन् १५४२ ई० में बनबीर को गद्दी से उतार कर उदयसिंह को मेवाड़ का अधिकारी बनाया।

जिस वर्ष महाराणा उदयसिंह चि ौड़ के सहासन पर बैठे, उसी वर्ष अमरकोट की मरुभूमि में अकबर का जन्म हुआ, जो बाद में दिल्ली के तख्त का अधिकारी हुआ। अकबर का पिता हुमांयू रण में हार जाने के कारण दिल्ली छोड़ कर भागा था, किन्तु कुछ कालोपरान्त सुअवसर देख वह पुनः दिल्ली लौटआया और अपने बुद्धि-बल से वह फिर दिल्ली पर अधिकार करने में समर्थ हुआ। अकबर को बाल्यकाल से ही बड़ी-बड़ी आपत्तियों और कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। बारह वर्ष की अवस्था में ही युद्ध में उसने जिस वीरता का परिचय दिया, उसे देखकर उसके पिता हुमांयू को परम सन्तोष हुआ। हुमांयू के मरने पर सन् १५५६ ई० में अकबर १४ वर्ष की आयु में दिल्ली के तख्त पर बैठा। कुछ दिनों तक शासन-कार्य बैरामखां ने संभाला और फिर अकबर ही सब काम देखने-भालने लगा अकबर कूटनीतिज्ञ, सहृदय, निर्भीक और तेजस्वी शासक था। उसने अपने बुद्धि बल और सैन्य बल से बड़े बड़े रजवाड़ों को मिला कर अपनी ओर कर लिया था। कुछ देश द्रोही और कुल कलंकी हिन्दू राजाओं ने उसे अपनी कन्यायें ब्याह कर अपने राज्यों को भी

उसके आधीन कर दिया। अकबर ने हिन्दुस्तान के अनेक राजाओं को अपने अधीन करके दूर-दूर तक अपना साम्राज्य स्थापित किया, किन्तु राजस्थान का मेवाड़ देश ही ऐसा भाग्यवान देश था कि जिसने अपने कुल-गौरव और वंश मर्यादा की रक्षा के लिये सदैव अपने सिर को ऊंचा ही रखा और यही कारण था कि चित्तौड़ का सिंहासन अकबर की आंखों में शूल की तरह चुभा करता था। राजपूताना जीतने के लिये अकबर ने सर्वप्रथम मारवाड़ के राठौरों पर चढ़ाई की और मेरता-नगर विध्वंश कर दिया। इस विजय ने अम्बर के राजा भरमल्ल और उ के पुत्र भगवानदास के दिल में बड़ी खलबली पैदा कर दी। अन्त में उन्होंने अपने कुल गौरव और प्राचीन स्वाधीनता के बदले अकबर की प्रसन्नता और शान्ति मोल ली। भरमल्ल ने अपनी कन्या अकबर को ब्याह दी।

इस चढ़ाई के बाद कुटिल अकबर का ध्यान विद्रोही उजबक सरदारों की ओर गया उन्हें दबाकर उसने चित्तौड़ पर चढ़ाई की। पहले तो महाराणा उदयसिंह ने अकबर से लड़ने में कुछ आनाकानी की, परन्तु जब वीर सरदारों और चारणों ने उनकी बहुत निन्दा की तो उन्हें युद्ध के लिये तैयार होना पड़ा। युद्ध आरम्भ हुआ, परन्तु राणा के मन में उत्साह एवं दृढ़ता की सर्वथा कमी थी। उनकी सेना दब कर पीछे हटने लगी; तो यवन सेना ने उनका पीछा किया और अन्त में उदयसिंह पकड़ लिये गये। चारणों का कहना है कि चित्तौड़ के गौरवपूर्ण ललाट

पर यह सर्वप्रथम कलङ्कक का टीका लगा था। वहां के वीर सरदारों ने जब उदयसिंह के पकड़े जाने का समाचार सुना तो सुनी बात उन्होंने अनसुनी करदी। इससे उदयसिंह उप-पत्नी के हृदय में भीषण क्रोध उत्पन्न हुआ, और उसने तुरन्त सब शृँगार की वस्तुएँ और आभूषण उतार कर हाथ में तलवार सम्भाली और मेवाड़ की बची हुई सेना लेकर युद्धस्थल की ओर चलदी। उप-पत्नी के इस साहस को देख कर चित्तौड़ के अन्य सरदारों को लज्जा हुई और वेभी अपनी अपनी सेनाओं को लेकर युद्धस्थल में जा पहुंचे। वीर-माहिला ने विद्युत वेग से इधर-उधर घूम कर युद्ध में जो वीरता दिखाई, उसने शत्रुओं के छक्के छूट गये। उनके पांव उखड़ गये और अपनी-अपनी जान लेकर वे लोग युद्धस्थल से भागने लगे। वीर-राजपूतों ने पीछा करके बहुत से यवन सैनिकों का संहार किया और वीराङ्गना-पत्नि अपने पति को छुड़ा कर चित्तौड़ लौटी। शत्रु सेना दिल्ली भाग गई। उदयसिंह ने अपनी उप-पत्नि की बहुत प्रशंसा की और उसे पुरस्कार भी बहुतसा दिया। राणा की इस पत्नि-भक्ति ने वहाँ के सरदारों के मन में ईर्ष्याग्नि की चिनगारी सुलगादी और उन्होंने वीरा (उप-पत्नि) को मरवा डाला। इस हत्या से चित्तौड़ में एक बार फिर अशान्ति और घरेलू झगड़ों ने जोर पकड़ा। अकबर मानो इसी की प्रतीक्षा कर रहा था, उसने पुनः अपनी सेना सजाकर चित्तौड़ पर चढ़ाई कर दी।

इस बार मुगल सेना ने चित्तौड़ के पंडोली गांव में आकर

अपना पड़ाव डाला। अकबर की चढ़ाई का समाचार पाते ही विलासी और भीरु उदयसिंह चित्तौड़ से भाग कर पहाड़ों में जापहुंचे। राणा के भाग जाने पर भी मेवाड़ के देश-भक्त वीर-सरदारों ने डट कर अपने शत्रु का मुकाबला किया। सूर्यपोल-द्वार की रक्षा का भार चन्डावत शाहीदास को सौंपा गया। सन्दोरिया के शेखावत, बिजोलिया के परमार, भाँदी के अलावत आदि बहुत से सरदार चित्तौड़ की रक्षा के लिये रणस्थल में पहुंचे। अकबर की सेना में गोला-बारूद और कई तोपें भी थी किन्तु राजपूतों के पास धनुष-बाण, बर्छे और भालों के सिवा और कुछ न था। यवन सेना ने सूर्यपोल-द्वार पर बड़ी जोर से आक्रमण किया और शाहीदास ने कई घन्टे तक उनका बड़ी वीरता से मुकाबला किया। शाहीदास के अद्भुत रणकौशल और वीरता ने अन्य राजपूत सरदारों में बड़ा उत्साह भर दिया और उन्होंने पूर्णवेग से अपने शत्रुओं को मारना-काटना आरम्भ कर दिया, किन्तु वे बहुत देर तक उस जगह ठहर न सके और वहीं लड़ते-लड़ते वे लोग वीरगति को प्राप्त हुए। बदनोर के राजा जयमल और कैलवाड़ा के चन्डावत फतेसिंह (फत्ता) ने इस युद्ध में जो वीरता दिखाई, उससे उनका यश सदा के लिये अमर होगया। दोनों की वीरता का इतिहास स्वयं अकबर ने लिखा है। उनकी वीरता से मुग्ध हो कर अकबर ने उनकी प्रतिमूर्ति अपने दरबार के आगे स्थापित कराई।

जब सरदार शाहीदास के गिरते ही वीरवर फत्ता ने सूर्यपोल

द्वार की रक्षा का भार अपने ऊपर लिया, उस समय उनकी आयु केवल सोलह वर्ष की थी। उनकी माता और धर्म-पत्नि भी घोड़े पर चढ़ तलवार हाथमें ले युद्ध करने निकलीं और बीसियों मुसलमानों को मौत के घाट उतार कर अन्त में वे दोनों भी वीर-गति को प्राप्त हुईं। अपनी माताओं, बहनों और धर्म-पत्नियों को इस प्रकार युद्ध करते देखकर राजपूतों की सेना में अद्भुत शक्ति और उत्साह भर गया। उन्होंने यवन-सेना के असंख्य सैनिकों और सरदारों को तलवारों से काट-काट कर यमपुरी पहुंचा दिया। अन्त में सूर्यपोल की रक्षा करते-करते फत्ता भी रणशायी होगये और उनकी जगह वीरवर जयमल आकर उस द्वार की रक्षा करने लगे। परन्तु शत्रु-पक्ष की विशाल सेना के आगे वे भी कब तक ठहर सकते थे? लड़ते-लड़ते अनेक घाव उनके शरीर में लग चुके थे और जब उन्हें जीतने की कोई आशा न रह गई तो उन्होंने 'जौहर-व्रत' के उद्यापन की घोषणा करदी। आठ हजार वीर राजपूतों ने केसरिया वस्त्र धारण कर स्वाधीनता संग्राम में प्राणाहुति देने की प्रतिज्ञा की और चित्तौड़ का द्वार खोल कर वे शत्रुओं पर एक साथ ही टूट पड़े। 'जयदुर्गे! जयमहाकाल! और जय-एकलिङ्गेश्वर! महादेव की जय!' के तुमुल नाद से गगन-मण्डल गूँज उठा।

इस युद्ध में महाराणा के बहुत ही निकट-सम्बन्धी सत्तरहसौ की संख्या में स्वाधीनता के लिये लड़ते-लड़ते युद्धस्थल में वीर-गति को प्राप्त हुये। राजपूत-वीरों के प्रस्थान करते ही राजपूत-

वीर रमणियों ने भी अपने अपने शृंगार कर 'जौहर-व्रत' के पालन की पूरी तैयारियें कीं। राजमहल की नौ रानियां और पांच राजकुमारियां, सामन्तों और सरदारों व अन्य राजपूतों की स्त्रियों को लेकर जीवित ही चिताओं कूद कर भस्म हो गईं। अकबर ने विजय प्राप्त की अवश्य, पर उसे जनशून्य चित्तौड़ के भीतर न तो कोई स्त्री ही दिखाई दी और न कोई पुरुष ही। चारों ओर भयानक बीभत्सता का अखण्ड साम्राज्य था। चित्तौड़ पर अधिकार करने के पश्चात् वह कई दिनों तक विजयोत्सव मनाता रहा और जब दिल्ली लौटा तो अपने साथ चित्तौड़ के सिंहद्वार के कपाट, देवी के मन्दिर के कई प्रदीप और राजद्वार के दो बड़े-बड़े नगाड़े अपने साथ ले गया। अकबर ने अपने हाथ ले जिस बन्दूक से जयमल को मारा था, उसका नाम उसने संग्राम रखा। चित्तौड़ में जब उसने मृत-राजपूतों के यज्ञोपवीत (जनेऊ) उतरवा कर तराजू में तौलाये, तो उनका वजन चार सेर वाले मन के हिसाब से साढ़े चौहत्तर मन हुआ था, इससे जान पड़ता है कितने हजार राजपूतों ने उस स्वाधीनता-संग्राम में अपने प्राणों की आहुतियां दीं। चित्तौड़ पर इस बार जैसी आपत्ति आई, उसके कारण पुनः उसके उद्धार की कोई आशा न रही। उदयसिंह ने चित्तौड़ से भाग कर पहाड़ों की तराई में एक नगर बसाया, जिसका नाम 'उदयपुर' रखा गया। इस युद्ध के चार वर्ष बाद ४२ वर्ष की अवस्था में महाराणा उदयसिंह गोगुण्डा नामक स्थान में स्वर्ग

सिधारे। यह चित्तौड़ का तीसरा और अन्तिम 'साका' कहा जाता है।

एकादश-परिच्छेद

प्रतापी महाराणा-प्रतापसिंह

था कुटिल चाल से अकबर की, सारा भारत मन मार रहा।
और कूटनीतिज्ञता के कारण, परवशता का प्रहार सहा॥
उस समय अकेला ही प्रताप, अरवली की चोटी पर चढ़कर।
मुगलों की सेना काट-काट, था विष धर सम फुंकार रहा॥
शत्रु के छक्के छुड़ा दिये, भाले की नोक तलवारों से।
अकबर की चौकड़ी भूल गई, निज सेना को धिक्कार रहा॥
प्रणवीर, धीर, गम्भीर महा, ऐसा प्रताप बल शाली था।
जय नाद से राष्ट्र तपस्वी की, आकाश सभी गुन्जार रहा॥

राणा उदयसिंह ने मरते समय अपने बड़े पुत्र युवराज प्रतापसिंह को मेवाड़ का उत्तराधिकारी न बनाकर अपनी छोटी रानी के पुत्र जगमल को उदयपुर का शासक नियुक्त किया। जब प्रताप अपने पिता की अन्त्येष्टि क्रिया करने में संलग्न थे, तो जगमल अपने राज्याभिषेक की तैयारियां करने में व्यस्त हो रहा था यह बात मेवाड़ के अन्य सरदारों को बहुत बुरी लगी।

वे महाराणा उदयसिंह के इस अन्याय पूर्ण निर्णय पर अत्यन्त क्षुब्ध हो उठे और उन्होंने जगमल को समझाने के लिये एक समिति बनाई, जिसके अध्यक्ष झालावाड़ नरेश बनाये गये। उन्होंने जगमल की ओर देखते हुए कहा, "कुमार! यह तो बड़ा अन्याय है कि युवराज प्रतापसिंह के अधिकार पर आपने इसप्रकार कुठारा-घात किया, माना कि राणा उदयसिंह स्नेहपाश में आबद्ध होकर यह अनुचित कार्य कर गये हैं, किन्तु इस का अभिप्राय यह तो नहीं कि आप भी उनका अनुसरण करें। इस सिंहासन पर प्रतापसिंह का अधिकार है और उन्हीं को यहां का शासक बनाना चाहिए।" चन्डावत सरदार कृष्णदेव और अन्य सामन्तों ने भी झालोर-नरेश का समर्थन किया। राज्यकुमार जगमल ने पहले तो कुछ प्रतिवाद किया, किन्तु बाद में जब उसने देखा कि मेवाड़ के ही नहीं, बल्कि अन्य रजवाड़ों के शासक और सरदार भी उन्हीं के पक्ष में हैं तो उसने बाध्य होकर मेवाड़ का राणा बनने का विचार त्याग दिया और उसके स्थान पर युवराज प्रतापसिंह को उदयपुर के सिंहासन पर बैठाया गया। प्रताप के राज्याभिषेक के समय खूब आनन्दोत्सव मनाये गये।

राणा प्रतापसिंह जिस समय मेवाड़ के सिंहासन पर बैठे, उस समय न तो उदयपुर के कोष में धन था, न शस्त्रागार में अस्त्र शस्त्र ही, न उदयपुर के राज्य में कोई सुसंगठित सेना ही थी और न अन्य प्रकार की युद्ध सामग्री ही। किन्तु राणा-

प्रताप के हृदय में अदम्य उत्साह, दृढ़निश्चय, अपूर्व साहस और बढ़ी हुई महत्वाकांक्षाएँ ऐसी थीं कि जिनसे वे ऐसे अव्यवस्थित समय में भी निरुत्साह कदापि न हुए। उनकी भुजाओं में अतुल बल था और थी उनके मन में चित्तौड़ पर पुनः अधिकार करने की दृढ़ भावना।

राणाप्रतापसिंह ने पूर्वजों की गौरव-गाथा चित्त लगाकर सुनी थी। वे बाप्पारावल और अपने दादा संग्रामसिंह के पद-चिन्हों पर चलने को लालायित हो उठे थे, गोरा और बादल की वीरता का स्मरण करते ही उनकी भुजायें फड़क उठतीं और महारानी पद्मनी के सती चरित्र का ध्यान आते ही उनका हृदय करुणा से भर उठता और यवनोंके प्रति घृणा के भाव जागृत हो जाते। उन्हें यह बलवती इच्छा थी कि चित्तौड़ को स्वाधीन कर वे दिल्ली के किले पर भी हिन्दू-धर्म की विजय-पताका फहरादें। उनके जीवन का एक मात्र यही ध्येय था। उधर कूटनीतिज्ञ अकबर भी निश्चिन्त नहीं था। उसने हिन्दुओं को अपनी ओर मिला कर उनसे ही हिन्दू राजाओं पर विजयप्राप्त करता था। उसने आम्बर के राजा मानसिंह जो उसका निकट सम्बन्धी था, उसे अपना परम सहायक बनाकर जोधपुर की राजकन्या जोधा-बाई से अपने पुत्र सलीम का विवाह करके प्रगाढ़ सम्बन्ध स्थापित कर लिया। अम्बर (जयपुर) और जोधपुर के राजाओं को अकबर ने मेवाड़ की स्वाधीनता के शत्रु बना कर फिर उदय-पुर पर चढ़ाई करने का आयोजन कर लिया। अकबर जानता

...ा कि हिन्दू ही हिन्दू पर विजय पा सकता है, इसीलिये उसने हिन्दुओं के साथ हिन्दुओं को लड़ाने का कपट जाल फैलाया, वह महा धूर्त, कुटिल, सहृदय और चतुर शासक था।

अकबर ने मेवाड़ के सब सामन्तों और सरदारों को जागीरों और बड़ी २ पदवियों का लोभ देकर उन्हें अपनी ओर मिलाने का भरसक प्रयत्न किया, किन्तु चण्ड, जयमल और फत्ता के वंशधरों ने किसी भी लोभ में पड़ कर महाराणा प्रताप का साथ नहीं छोड़ा। वे स्वतन्त्रता के सच्चे उपासक और अपनी कुल-मर्यादा व जाति-प्रतिष्ठा के अनन्य पुजारी थे—भले कैसे उस यवन के कपट जाल में फँस जाते? अकबर ने महाराणा प्रताप को भी पत्र लिखकर यह इच्छा प्रगट की, कि यदि एक बार दिल्ली आकर वे उसे सम्राट कहदें तो वह अपने दरबार में उन्हें दाहिनी ओर बैठने का स्थान देकर सर्वोच्च-पदवी प्रदान करेगा। परन्तु महाराणा के गौरवपूर्ण हृदय पर उसकी चिकनी चुपड़ी बातों का जरा भी असर न हुआ। उनका यह मत था कि बप्पारावल का वंशधर तुर्कों के आगे कभी सिर न झुकायेंगे। एक दिन अपने सरदारों और सामन्तों को बुलाकर महाराणा ने यह प्रतिज्ञा करायी कि जब तक मेवाड़ का पुरुषद्धार न हो, मेवाड़-सन्तान सोने चाँदी के थालों में भोजन न कर, पेड़ के पत्तों पर भोजन किया करें। कोमल शय्या के स्थान पर घास और धरती के ऊपर सोया जाये, महलों की जगह तृण कुटीयों वास किया जाये; राजपूत अपनी दाढी मूँछों पर छुरा न चलावें।

रण-डङ्का सेना के पीछे बजा करे। वीर वर प्रताप का ख्याल था कि उनके दादा संग्रामसिंह और उनके बीच यदि राणा उदयसिंह न हुए होते तो चित्तौड़ का सिंहासन शिशोदिया कुल के हाथ से न जाता। महाराणा ने जब सबसे प्रतिज्ञा करायी तो स्वयं भी उसी प्रतिज्ञा के अनुसार आचरण करने लगे।

उनके आगे चित्तौड़-उद्धार के लिये एक विस्तृत कार्य क्षेत्र था। उन्हें परिस्थिति के अनुसार एक ऐसे ढंग से काम करना था, जिससे शत्रु के विरुद्ध सैन्य-संगठन करने में उन्हें सुगमता से कार्य करने का अवसर मिल जाये। उन्होंने राज्य भर में यह घोषणा की, कि मेवाड़ की सारी प्रजा बस्ती और नगरों को छोड़ कर परिवार सहित अरावली पर्वत के बीच रहने लगे। जो इस आज्ञा का पालन न करेगा, वह शत्रु समझा जावेगा और उसे प्राण दण्ड दिया जायेगा। आज्ञा होते ही सब मेवाड़ निवासी अपने अपने घरों को छोड़ कर अरावली पर्वत मालाओं के बीच जा-जाकर रहने लगे। जिसने आज्ञा पालन करने में जरा भी अवहेलना की, उसे प्राण दण्ड दे दिया गया। एक चरवाहे को भी इस दण्ड का शिकार होना पड़ा। धनाभाव के कारण, मेवाड़ के सरदारों ने धन संचय करने का एक उपाय ढूँढ निकाला। उन दिनों उत्तरी भारत से जो भी माल सूरत बन्दर से विदेशों को भेजा जाता था, उसका मार्ग मेवाड़ के बीच से ही था। सरदारों ने दल बद्ध होकर वह सब

सामग्री और खजाने लूटने शुरू कर दिये। इस लूट खसोट का परिणाम यह निकला कि महाराणा प्रताप के पास बहुत सा धन संग्रह हो गया।

अकबर ने जब महाराणा की सब बातें सुनीं तो वह बड़ा क्रुद्ध हुआ और वह अपनी सारी सेना सजा कर अजमेर के निकट डेरा डाल बैठा। अकबर के पास सैन्य बल बहुत अधिक था। मारवाड़ के राव मालदेव ने जब अकबर की इस भयानक चढ़ाई का हाल सुना तो उसने बड़े बेटे उदयसिंह को अकबर के पास भेज दिया। अजमेर में उदयसिंह ने अकबर से सन्धि कर ली और उसी दिन से मारवाड़ के शासकों को अकबर की दी हुई 'राजा' की उपाधि भोगने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मालदेव भी अकबर से मिला और अपनी कन्या का विवाह उसके साथ कर दिया। जिन शासकों के पूर्वजों ने मेवाड़ की विपत्ति के समय सदा महाराणाओं का साथ दिया, वे ही अब मेवाड़ की स्वाधीनता छीनने के लिये अकबर की सहायता करने को तैयार हो गये। उनके ऐसा करने का एक कारण और भी था। जिन जिन राजपूत शासकों ने अपनी अपनी कन्यायें अकबर से ब्याह दी थीं, उन राजाओं से मेवाड़ के शिशोदिया-वंशधरों ने सर्वथा अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया, वे उन्हें कुलहीन राजपूत समझने लगे।

एक बार शोलापुर (दक्षिण) के युद्ध में विजय पाकर अम्बर नरेश राजा मानसिंह दिल्ली लौट रहे थे, तो उन्होंने सोचा कि

महाराणा प्रताप से यदि इस समय भेंट की जाय तो अपने घर आये हुये अतिथि का वे अपमान नहीं करेंगे और बहुत सम्भव है बात मान कर वे अकबर की अधीनता भी स्वीकार कर लें। यह सोच राजा मानसिंह ने अपनी सब सेना यथा स्थान भेज दी और कुछ चुने हुये सरदारों को लेकर वे उदयपुर जा पहुंचे। महाराणा प्रताप ने अपने अतिथि के सत्कार का पूरा प्रबन्ध करने का भार अपने बड़े पुत्र युवराज अमरसिंह को सौंपा। उदयसागर के तट पर बड़ा भारी प्रबन्ध किया गया। भोजन के समय भी कुछ सरदारों के साथ युवराज अमरसिंह ही वहां उपस्थित थे। मानसिंह के पूछने पर बताया गया कि सिर-दर्द होने का कारण ही महाराणा स्वयं वहां नहीं आसके। धूर्त मानसिंह समझ गया कि इस की तह में निश्चय ही कोई गूढ़-रहस्य छिपा हुआ है। उसने बारम्बार उन्हें बुलाने का प्रयत्न किया, किन्तु मेवाड़ के गौरवशाली महाराणा भला कैसे एक देश द्रोही, कुल कलङ्की और अछूत राजपूत के साथ बैठ कर भोजन करने को तैयार हो सकते थे? उन्होंने भोजन के समय वहां आना किसी तरह भी स्वीकार न किया।

राजा मानसिंह अपने इस अपमान से एक बारगी ही जल उठे। उन्होंने अन्न का अनादर न हो, इस कारण दो चार दाने भात के उठा अपने दुपट्टे के छोर में बांध लिये और बिना खाये पीये उठकर बोले, "आज मैं महाराणा जी की भलाई के लिये ही उचित परामर्श देने यहां आया था, किन्तु

मैं देखता हूँ महाराणा जी को हद से ज्यादा इस बात का अभिमान हो गया है कि वे अकबर की अधीनता स्वीकार न करके अपने कुल-गौरव की रक्षा कर रहे हैं। यह उनकी भूल है और अपनी इस भूल के कारण उन्हें शीघ्र ही पश्चाताप करना होगा। समयानुकूल अकबर के आधीन होकर हमने जो बुद्धिमानी की है, उससे न केवल व्यर्थ का रक्तपात ही बन्द हुआ, बल्कि हिन्दू जाति भी निर्भय, सुरक्षित और निशङ्क हो गई है। एक अकेले महाराणा ही आखिर कब तक बचे रह सकते हैं।" ठीक उस समय जबकि मानसिंह अपमान की ज्वाला में जलता हुआ उपरोक्त बातें कह रहा था, महाराणा प्रताप भी वहां आ पहुंचे और उन्होंने शान्त-गम्भीर शब्दों में कहना शुरू किया,—"कुंवर जी! आपको मेरा यह कार्य बुरा तो अवश्य लगा होगा, किन्तु मैं अपनी शुद्ध जातीयता के नियम-पाश में बंधा होने के कारण ऐसा करने को बाध्य हो गया हूँ। बाप्पा रावल के वंशधर उन कुलघातियों के साथ भला कैसे भोजन कर सकते हैं, कि जिन्होंने अपनी बहन एक विधर्मी को देकर धन और शान्ति मोल ली है। जिस स्वाधीनता और स्वाभिमान को बेच कर आपने हिन्दू धर्म की रक्षा करनी चाही थी; उससे तो वह रसातल को चला जाता तो कहीं अधिक अच्छा होता। आप जिस अकबर को अपना मित्र समझे बैठे हैं; वह मित्र नहीं—हिन्दू धर्म का घोर शत्रु है। अपना मतलब निकालने के लिए ही उसने आप

लोगों को अपनी ओर मिलाया है। जिस दिन उनका स्वार्थ पूर्णरूप से सिद्ध हो जायेगा, उसी दिन देखना वह आपका शत्रु बन जायेगा।"

इसके बाद मानसिंह अपने घोड़े पर चढ़कर वहां से चल दिया और जाते समय कहता गया इस अपमान का बदला मैं शीघ्र युद्ध स्थल में लूंगा। महाराणा के एक सरदार से चुप न रहा गया। उसने ताना मारते हुए कहा, "बड़े शौक से आना, मेवाड़ की तलवारें सदा तुम्हारा स्वागत करने को तैयार रहेंगी। परन्तु आते समय अपने बहनोई अकबर को साथ लाना कदापि न भूलना।" जिन बर्तनों को मानसिंह ने स्पर्श किया था, उन सबको तोड़ कर फेंक दिया गया और जहां पर लाकर उसे बैठाया गया था, उस स्थान की भूमि खुदवाकर मिट्टी उदयपुर के बाहर फेंक दी गई और गंगा-जल छिड़क कर वह जगह पवित्र की गई। उदयपुर से चलकर मानसिंह दिल्ली पहुंचे और अकबर से अपने अपमान का सब हाल सुनाया। अकबर सुनते ही बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने कई लाख सैनिकों की एक बहुत बड़ी सेना तैयार करके मेवाड़ पर चढ़ाई करने की आज्ञा दी। मानसिंह को सेनापति बनाकर सेना के साथ अकबर का भानजा सलीम और सगर के पुत्र मुहब्बतखां को भी साथ ही भेजा गया। मुहब्बतखां, राजकुमार सगरसिंह के पुत्र थे। सगरसिंह महाराणा प्रताप के भाई थे। वे एक मुसलमान स्त्री के प्रेम में फँस कर स्वयं भी मुसलमान हो गये थे। इस युद्ध में एक से

अधिक घर के भेदी यवक सेना में थे। शक्तिसिंह, महाराणा प्रताप के सहोदर होते हुए भी इस समय शत्रु-पक्ष के साथ मिले हुए थे। एक बार 'आहेरिया' के विजयोत्सव पर एक सूकर पर दोनों भाइयों (महाराणा प्रताप और शक्तिसिंह) ने एक साथ अपने-अपने भाले चलाये। सूकर मर गया, किन्तु उसके शव में घा का केवल एक ही चिन्ह था, जिसे शक्तिसिंह अपने भाले का चिन्ह बताता था। दोनों भाइयों में परस्पर युद्ध होने लगा। इस अनिष्ट कारी युद्ध को रोकने के लिये कुल-पुरोहित ने उन दोनों भाइयों को बहुत समझाया बुझाया, किन्तु जब उनमें से किसी ने कुल-पुरोहित का कहना न माना तो एक छुरा मार कर उन्होंने आत्म घात कर लिया पुरोहितजी के मरते ही दोनों भाई अलग अलग हो गये और महाराणा प्रताप ने न्याय के नाम पर अपने भाई शक्तिसिंह को देश निकाले की आज्ञा दी। शक्तिसिंह ने अपने लिये और कोई उपयुक्त स्थान न पाकर दिल्लीश्वर अकबर की आधीनता स्वीकार कर ली। अब इस युद्ध में महाराणा प्रताप के साथ लड़ने को अकबर ने उन्हें भी मानसिंह के साथ भेज दिया। यही तो उस कूटनीतिज्ञ मुगल-सम्राट की कपट पूर्ण चाल थी। हिन्दुओं से हिन्दुओं को ही लड़वाता था।

सन् १५७६ ई० के जुलाई मास में दोनों ओर की सेनायें 'हल्दी घाटी' के संकीर्ण स्थान पर युद्ध के लिये आडटीं। महाराणा प्रताप भाला हाथ में ले 'चेतक' नामक प्रसिद्ध घोड़े पर

चढ़ स्वयं मुगल सेना को चीरते हुए बहुत आगे तक बढ़ गये। पहले दिन के युद्ध में ही हजारों यवन मौत के घाट उतार दिये गये। विद्युत वेग से उछल-उछलकर चेतक ने शत्रु-पक्ष के छक्के छुड़ा दिये। यवन सेना छिन्न-भिन्न हो गई और उसके मन से युद्ध करने का सारा उत्साह जाता रहा। महाराणा प्रताप ने शत्रु सेना के मध्य में खड़े होकर सिंह गर्जना के समान उच्च-स्वर में कहा "राजपूत कुल कलङ्की मानसिंह कहां है? वह देश-द्रोही हिन्दू धर्म का घोर शत्रु मानसिंह?" परन्तु मानसिंह अपना मुँह छिपाये सेना के पिछले भाग में खड़ा हुआ हुक्म चला रहा था। सामने उन्हें एक हाथी पर सलीम चढ़ा हुआ दिखाई दिया। चेतक को संकेत कर एक ही छलांग में वे वहां जा पहुंचे और एक भरपूर हाथ भाले का उन्होंने ऐसा मारा कि यदि लोहे का हौदा न होता तो सलीम दो टूक हो धरती पर आ जाता। फिर भी उस प्रहार से लोहे का बना हुआ मजबूत हौदा फट गया और महावत मर कर नीचे लुढ़क गया। हाथी चिग्घाड़ मार कर बड़े जोर से एक ओर को भाग गया, जिससे सलीम की जान बच गई। हाथी के भागते ही महाराणाजी को बुरी तरह से मुगल सेना ने बीच में घेर लिया, किन्तु झालौर के वीर सरदार मन्नासिंह ने स्वयं वहां पहुंचकर अपने स्वामी की रक्षा की। महाराणाजी बड़े कौशल से शत्रु सेना के बीच से निकल आये, किन्तु झालामन्ना बड़ी वीरता से लड़ते हुए इस युद्ध में काम आये। महाराणाजी के शरीर में एक गोली

लगने के सिवाय तलवार और भाले के तीन घाव और भी लगे।

महाराणा ने सब घावों को खूब कसकर बांधने के बाद पुनः लड़ना शुरू कर दिया। उन्हें यह बात मालूम हो चुकी थी कि यह युद्ध बहुत देर तक न चल सकेगा, परन्तु क्षत्रिय-कुल-भूषण महाराणा प्रताप ने लिये एक क्षण भर भी युद्ध स्थल छोड़कर भागने का प्रयत्न नहीं किया। इसी समय पीछे से उन्हें 'मेवाड़ पति महाराणा प्रताप की जय' का तुमुल-नाद सुनाई पड़ा। महाराणा ने घूमकर देखा तो झालापति मन्नाजी बिल्कुल उनके समीप आ चुके थे। उन्होंने आते ही कहा, महाराणा जी आप बहुत घायल हो चुके हैं अतः यह समय ऐसा नहीं कि आप यहां ठहर कर अधिक देर तक युद्ध करें। शीघ्र ही छत्र-चँवर और सारे राज्य-चिन्ह मुझे देकर आप यहां से चले जायें, क्योंकि इन्हीं चिन्हों के कारण शत्रुपक्ष के सब सैनिक आप पर ही टूट पड़े हैं।" परन्तु महाराणा जी ने जाने से इन्कार करते हुये कहा—प्रताप कभी जीवितावस्था में रण स्थल नहीं छोड़ सकता। मन्ना जी ने कहा,—यह समय हठ करने का नहीं है। मेवाड़ की भलाई के लिये आपको इस समय यहां से जाना ही होगा। और यह कहकर उन्होंने सब राज्य-चिन्ह उनसे लेकर अपने ऊपर धारण कर लिये। शत्रु-सेना अब उन्हीं को महाराणा प्रताप समझने लगी और इस प्रकार उन वीर शिरोमणि-सरदार झाला-मन्ना ने ठीक समय पर पहुंचकर शत्रुओं से घिरे हुये अपने महाराणा की

रक्षा की और स्वयं लड़ते-लड़ते प्राण त्याग दिये। धन्य है सरदार मन्नासिंह तुम्हें—तुम्हारे वंश को, जिस उज्जवल-कुल में जन्म लेकर तुमने ठीक समय पर आपत्ति से घिरे हुये अपने महाराणा के प्राण बचाये ! तुम्हारा यश सदा अमर रहेगा !

महाराणा की वीरता और आत्म त्याग से राजपूत-वीरों के मन में अदम्य उत्साह भर दिया था, इसलिये वे महाराणा के चले जाने के बाद भी बड़ी वीरता और साहस से लड़ते रहे किन्तु टिड्डी दल के समान विशाल मुगल सेना के सामने वे मुट्ठी भर राजपूत भला कब तक ठहर सकते थे ? मुगल सेना के पास तोप, बन्दूकें, गोला-बारूद आदि आग बरसाने वाली सभी युद्ध सामग्री थी, जबकि राजपूतों को केवल अपने धनुष-बाण, बर्छे और भाले का ही भरोसा था। सन्ध्या समय जब युद्ध बन्द हुआ तो बाईस हजार राजपूत-वीरों में से आठ हजार ही वापस लौटे थे। महाराणा जी के कई सौ घनिष्ठ-सगे-सम्बन्धी इस युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुये। युद्ध से लौटते हुये जब चेतक घोड़ा अपने स्वामी को लेकर पहाड़ी मार्ग से भागा, तो उन्हें देखकर दो मुसलमान और एक राजपूत भी महाराणा जी के पीछे हो लिये थे। एक नदी को पार करते ही महाराणा के कानों में पीछे से बन्दूक छूटने की आवाज सुनाई दी। महाराणा ने घूमकर देखा तो दो मुसलमान सैनिक नदी के उस पार तड़पते हुये उन्हें दिखाई दिये। इतना ही नहीं, अपने भाई शक्तिसिंह को भी उन्होंने अपनी ओर आते हुये देखा। वे समझे, शायद वह

उनकी घायल-अवस्था का अनुचित लाभ उठाकर उनसे लड़ने आरहा है। परन्तु महाराणा जी का भ्रम शीघ्र ही उस समय दूर हो गया, जबकि शक्तिसिंह ने पास पहुंचकर महाराणा जी के चरण छूते हुये कहा, 'भ्राता जी, मुझे क्षमा कर दें! आप को मातृभूमि की रक्षा के लिये इस प्रकार शत्रुओं से लड़ते देखकर आज मेरे ज्ञान-चक्षु खुल चुके हैं। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि भविष्य में शेष जीवन मेरा शत्रुओं का विनाश करने में ही व्यतीत होगा—मुझ पर विश्वास करें!

अपने भाई को सत्-पथ पर आते देखकर महाराणा का हृदय आनन्द-विभोर होगया और उन्होंने आगे बढ़कर शक्तिसिंह को हृदय से लगा लिया। उसी समय महाराणा के परम-प्रिय घोड़े चेतक ने उसी स्थान पर प्राण-त्याग दिये। घोड़े के मरने पर महाराणा जी बहुत दुखी हुए और उन्होंने उसकी स्मृति में वहां पर एक चबूतरा बनवा दिया जो अब भी 'चेतक का चबूतरा' के नाम से प्रसिद्ध है। शक्तिसिंह अपने घोड़े पर महाराणा को विदा कर वहां से पुनः शत्रु सेना में लौट गये; किन्तु सलीम को सन्देह हो जाने के कारण वे अधिक देर तक वहां न ठहर सके, और जब वापिस लौटे तो राह में भीम-सरोवर का किला जो उन दिनों अकबर के आधीन था, जीत कर महाराणा जी को दे दिया और स्वयं भी उन्हीं के साथ रह कर शेष जीवन देश, जाति और धर्म कार्यों में बिताने लगे।

वर्षा-ऋतु आरम्भ हो जाने के कारण मुग़ल-सेना को उस पहाड़ी स्थान में रहना दूभर हो गया। नदियां बड़े वेग से उमड़-घुमड़ कर चल निकलीं और चारों ओर लम्बी-लम्बी घास और झाड़ियां उग आने के कारण वह स्थान और भी दुर्गम हो गया। तिस पर वन-प्रान्तों में रहने वाले विषधर और दूसरे कीड़े-मकोड़ों ने काट-काट कर तो मुग़ल सेना को वहां से और भी भागने को बाध्य कर दिया। महाराणा को इसी बीच सैन्य संगठन करने और अपनी शक्ति को बढ़ाने का अवसर मिल गया। वर्षा समाप्त होते न होते, सन् १५७७ ई० के जनवरी मास में मुग़ल सेना ने फिर उदयपुर पर चढ़ाई करदी। महाराणा उस समय उदयपुर छोड़ कर प्रजा सहित कमलमीर दुर्ग में रहते थे। अकबर के सेनापति शाहबाज खां ने उदयपुर का घेरा डाल लिया। बहुत दिनों तक महाराणा कमलमीर दुर्ग से सैन्य-संचालन करते रहे। परन्तु उस मुग़ल सेनापति के साथ मेवाड़ का जो देश द्रोही राजपूत देवराज था, उसने महाराणा जी से कमलमीर भी छुड़ा दिया। देवराज को यह बात मालूम थी कि कमलमीर-दुर्ग के भीतर केवल एक ही कुआं है। उसी के पानी से वहां सबका निर्वाह होता था। उस दुष्ट ने कुंए में कुछ मरे हुए सर्प डलवा दिये, जिससे उस कुंए का जल विषैला हो गया और सब पानी के बिना प्यासे तड़फने लगे। महाराणा चौंड नामक पहाड़ी-दुर्ग में चले गये। मुग़लों ने वह किला भी घेर लिया। भयंकर युद्ध के बाद

सरदार भानुसिंह और मेवाड़ के प्रसिद्ध महाकवि मारे गये। उन दिनों सारे मेवाड़ के लोग इतने उत्तेजित हो उठे थे, कि वे जहां भी किसी मुसलमान को आता-जाता देखते थे, तुरन्त उसको मार डालते थे।

जिन दिनों महाराणा कमलमीर के दुर्ग में घिरे हुए थे, मानसिंह ने धर्मेती और गोगुण्ड नामक किलों पर अधिकार कर लिया था। उधर उदयपुर भी अकबर के आधीन हो चुका था। अमीशाह नामक एक दूसरे मुसलमान सेनाध्यक्ष ने अपनी सेना को चौंड और अगुणपांडोर के बीच के मैदान में अड़ा दिया, जिससे महाराणा का भीलों के साथ सम्बन्ध भी जाता रहा। फरीदखां चप्पन को घेर कर चौंड तक बढ़ा और इस प्रकार महाराणाजी को चारों ओर से घेर कर उन्हें निस्सहाय और शक्तिहीन करने की चेष्टाएँ की गई। मुगल सेना पहाड़ों की घाटियों और गुफाओं में महाराणा को पकड़ने के लिये चक्कर लगाया करती, पर वे किसी के हाथ न आ सके। जब कभी वे मुगल सेना को असाव-धान पाते, उन पर टूट पड़ते और जो कुछ युद्ध सामग्री उनके हाथ लगती, उसे आगामी युद्ध के लिये संग्रहीत करते रहते। कुछ ही दिनों में उन्होंने फरीदखां को उसकी सम्पूर्ण सेना सहित काट डाला। दूसरी, तीसरी, चौथी और पांचवी वर्षा-ऋतु इसी प्रकार निकल गई। वर्षा काल में महाराणा को विश्राम करने और सैन्य संगठन का कार्य करने का अवकाश मिल जाता, शेष काल उनका शत्रुओं का

सामना करते हुए ही बीतता।

अनेक वर्ष यूँ ही व्यतीत हो गये, पर महाराणा जी को सफलता का मुख देखना नसीब न हुआ। उनके आश्रय स्थानों में से एक-एक कर सभी मुगलों के हाथों में चले गये। अन्त में उन्हें अपने परिवार की रक्षा भी कठिन दिखाई देने लगी। एक बार वे सपरिवार शत्रुओं के हाथों में पड़ ही चुके थे, गोहलोत वंश के वीरों ने उनका उद्धार किया। महाराणा भीलों के साथ दूसरे मार्ग से चले गये। उनके परिवार को टोकरों में रखकर भीलों ने जावरे की टीन की खानों में छिपा दिया था। पचासों बार भीलों ने महारानी, युवराज अमरसिंह और राजकुमारी को वृक्षों से लटका कर मुगलों के हाथों से उनकी रक्षा की आज तक भी उन स्थानों में लोहे के बने हुए कड़े और बड़ी-बड़ी कीलें गड़ी हुई दिखाई देती हैं। जिन महारानी और राजकुमारी ने कभी महलों के बाहर पांव तक न रखा था, वे ही अब पवित्र स्वाधीनता और कुल गौरव की रक्षा के लिये सन्यासी महाराणा के साथ भूखे-प्यासे, कांटों के जंगलों और नौकीले पत्थरों के बीच घूम रही थीं। देखिये, परमात्मा की लीला भी कैसी विचित्र है।

महाराणा की इस वीरता, त्याग, देश-प्रेम और सहन शीलता को देखकर शत्रु भी दांतों तले अंगुली दबा गये। अकबर ने गुप्तचर भेजकर महाराणा की वास्तविक अवस्था का पता लगाया। गुप्तचर ने लौटकर कहा कि मैं अपनी आंखों से देख

कर आया हूँ, प्रतापसिंह अब भी जंगलों और पहाड़ों के बीच पेड़ों के नीचे बैठकर अपने सरदारों को दोना बांटा करते हैं। अकबर यह सुनकर आश्चर्य विमुग्ध हो उठा और उसके कदमों में आत्म-समर्पण करने वाले राजपूत भी महाराणा का गुण-गान करने लगे। खानखाना ने बड़े महत्वपूर्ण शब्दों में महाराणाप्रताप की प्रशंसा की। महाराणा वास्तव में स्वाधीनता देवी के सच्चे पुजारी थे।

दुःखों और आपत्तियों की भी एक सीमा होती है; किन्तु महाराणा जी के कष्ट, जो वास्तव में उनके लिये कष्ट नहीं थे, पराकाष्ठा को पहुंच चुके थे। कहते हैं एक दिन महाराणा जी ने दो-तीन दिन के उपवास के बाद घास के बीजों को एकट्ठा करके कुछ रोटियां बनाईं। आधी-आधी रोटी कुमार और कुमारी को देकर शेष आधी रोटी दूसरे दिन के लिये उनके खाने को रखदीं। महाराणा भी एक-आधी रोटी खाकर पास ही एक पेड़ की छाया में विश्राम कर रहे थे। इतने में एक वन-बिलाव आया और कुमारी के हाथ से घास की रोटी छीनकर भाग गया। कुमारी क्षुधाग्नि से बिलबिला कर बड़े जोर से रो उठी। महाराणा ने देखा तो उनका हृदय भी अपने बच्चों के इस दारुण दुःख को देखकर रो उठा। मेवाड़ाधिपति महाराणा की कन्या आज घास की रोटी के एक टुकड़े के लिये दहाड़ें मार कर रो रही थी! यह महाराणा के लिये असह्य हो उठा। जिन महाराणा का हृदय रणस्थल में सहस्त्रों वीरों की रण-शय्या

देख कर भी विह्वल न हुआ था, वे आज कन्या के आर्त्तनाद सुनकर शोकातुर हो उठे ! सुनते हैं इसी कष्ट से अधीर होकर महाराणा अकबर को सन्धि-पत्र लिखा था।

यह सर्वथा मिथ्या बात है। यदि कुछ इतिहासकारों के इस मत को कपोल-कल्पित-कल्पना कहा जाये तो कोई अत्युक्ति न होगी। प्रथम तो घास की रोटी वाली घटना ही कुछ अति रंजित करके लिखी गई है, जिसे सत्य मानने में भी सन्देह होता है। माना कि स्वाधीनता-संग्राम में अपना सब-कुछ स्वाहा करके भी उन्होंने इस युद्ध को निरन्तर बीस-बाईस वर्ष तक चलाये रखा, यह भी माना कि उदयपुर छोड़कर वे पहाड़ों में आबसे थे; किन्तु इन सबका अभिप्राय यह तो नहीं कि वे रोटियों को भी तरसने लगे अथवा रहने के लिये उनके पास कोई किला ही न रह गया था। यह सत्य है कि महाराणा को राज महलों के समान शारीरिक सुख वहाँ प्राप्त नहीं हुए, सो इसके लिये वे स्वयं ही तैयार होकर वहां आये थे, फिर भी पहाड़ों में महाराणा सपरिवार आनन्दपूर्वक रहते हैं। उदयपुर से लाकर भी महाराणा के अधिकार में ६० मील लम्बा और ५० मील चौड़ा पहाड़ी प्रदेश था। उक्त प्रदेश में ५० हजार के लगभग भील तो पहले ही निवास करते थे एवं कुछ राजपूतों का भी वहां पहले से निवास था, वे भी सहस्त्रों की संख्या में थे। इनके अतिरिक्त युद्ध आरम्भ होने के कुछ समय पूर्व मेवाड़ के किसान तथा अधिकांश प्रजा महाराणा की आज्ञा से पहाड़ों

में चले आये थे। यह सभी प्रजा महाराणा के लिये जीवन तक देने को तैयार थी और बराबर युद्ध में भी भाग ले रही थी। वहां समतल भूमि में खेती-बाड़ी भी होती थी। इसके अतिरिक्त उदयपुर आदि स्थानों में अन्न का एक भी दाना यवनों को न मिल सके ऐसा भी महाराणा का प्रबन्ध था। जो फसल अन्न रूप में नीचे तैयार हो चुकी थी, उसे भी ऊपर पहाड़ों में मंगवा लिया गया था। प्रजा वहां सुखपूर्वक रहती और खाती-पाती थी, उसे वहां किसी प्रकार का कष्ट न था। मेवाड़ के किसान भी पहाड़ों में जाकर अन्न उपजा रहे थे। और फिर पहाड़ों और जंगलों में आम आदि फलों की भी कोई कमी न थी (मुसलमानों की लिखी हुई तवारीखों में भी स्पष्ट लिखा है कि अन्न हाथ न लगने पर हमें फलों पर निर्भर रहना पड़ता था) वहां जंगलों में लाखों गायें थीं, जिससे प्रजा तक को भी दूध बहुतायत से मिलता था। सैकड़ों गांव बसते थे तथा उत्तम शासन-व्यवस्था स्वयं भामाशाह जैसे लोक-हितैषियों के हाथ में थी। महाराणा का समस्त परिवार किले में था, जहां अन्न-भन्डार तथा सुखों की सब सामग्री उपस्थित थी। उस समय सहस्त्रों राजपूत-वीर और भील महाराणा के परिवार-रक्षक थे। जहां सुख पूर्वक लाखों की संख्या में प्रजा खाती थी, तो क्या राणा जी का परिवार ही भूखों मरता ?

जब-जब मुगलों से युद्ध हुए तथा पहाड़ों में उन्होंने पीछा किया, तब युद्ध सीमा मेवाड़ के उत्तर-पूर्व में ही रही। बाकी

के सभी इलाकों में महाराणा का अधिकार रहा, और आदि से अन्त तक रहा है। केवल एक बार पूर्व की ओर का किला मुगलों के आधीन हुआ, तब राणाजी का परिवार एक दूसरे किले में चला गया और उस समय राणाजी स्वयं उसे खाली-कर दक्षिणी भाग में चले गये थे। सारा पहाड़ी प्रदेश घेरने की शक्ति मुगलसेना में न थी, युद्ध में इसका उल्लेख किया गया है। उन पहाड़ी इलाकों को घेरने में करोड़ों सेनायें भी पर्याप्त न थीं अतः पूर्व तक ही मुगल-सेना जा सकी, सर्वत्र नहीं। यही कारण था कि महाराणा अपनी स्वतन्त्रता को स्थिर रखने में समर्थ हुए। वे पहाड़ों में सिंह के समान निर्भय होकर जहां चाहते घूमते, कोई उन्हें रोकने वाला न था। समस्त पहाड़ी प्रदेश में भीलों का निवास था। वे लोग महाराणाजी के अनन्य भक्त थे और अनायास ही पहाड़ों के दुर्गम मार्गों को लांघ जाते थे। वे इतने बड़े पहाड़ी प्रदेश में ३-४ घन्टे के भीतर सर्वत्र घूमकर समाचारों का आदान प्रदान करने वाले भील थे, सेना तो वहां पहुंचने में भी सर्वथा असमर्थ थी। शत्रु कहां है तथा किस ओर से उस पर आक्रमण किया जाये, यह समाचार भील आकर देते थे। पहाड़ों में छिपे ये भील शत्रुओं का नाश करने में पूर्णतया सफल होते थे; फिर राणाजी के पास तक तो पहुंचना ही दूभर था।

यदि महाराणा पर इतनी विपत्तियां आई होती तो अब्दुल फज़ल जैसे फ़ारसी की तवारीखों में बात का बतंगड़

बनाने वाले, क्या इसका उल्लेख ज़रा भी न करते ? फ़ारसी इतिहासों में इन बातों का कहीं ज़िक्र तक नहीं आया कि महाराणा प्रताप पर इतनी मुसीबतें आई। प्रताप के किसी पत्र का भी उल्लेख नहीं मिलता। यह सुनी-सुनाई मनःकल्पित बातें ही बातें हैं। यह बात अब निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है कि महाराणा जी पर किसी प्रकार की घोर विपत्ति नहीं आई, वरन विपत्तियों के बचाव के लिये ही उन्होंने उदयपुर छोड़ कर पहाड़ी जीवन बिताना स्वीकार किया।

'टाड-राजस्थान' के माननीय लेखक मिस्टर टांड (कर्नल) को न जाने यह स्वप्न कहां से आ गया कि जिस शिशोदिया कुल दिवाकर महाराणा प्रताप ने अपना सारा जीवन स्वाधीनता संग्राम को लड़ने में ही खपा डाला और जिन्होंने अकबर के लिये अपने मुँह से 'तुर्क' के सिवाय अन्य किसी शब्द का प्रयोग नहीं किया, वे कैसे भला अपने ही हाथों से उसे संधि-पत्र लिखने के लिये तैयार होंगे ? हमें खेद है कि हमारे ये लेखक गण बिना खोज किये ही अपने पूर्वजों का जीवन-चरित्र एक विदेशी लेखक की कपोल-कल्पित-कल्पना के आधार पर लिख मारते हैं ? क्या यह हिन्दी-साहित्य का अपमान नहीं ? क्या यह अपने पूर्वजों के पवित्रतम एवं उच्च-आदर्शमय जीवनियों को दूषित करने का घोर षड़यन्त्र नहीं ? क्या यह अपने ही पांव पर स्वयं कुल्हाड़ी मारने का अपराध नहीं।

इन्हें चाहिये कि लिखने के पूर्व इस संबन्ध का पूर्ण

अध्ययन कर लें और विशेष क आदर्श-महापुरुषों का जीवन चरित्र लिखते समय तो हमें काफी खोज करने की आवश्यकता है। आदर्श-वीर शिशोदिय-कुल-भूषण महाराणा प्रताप का अकबर को सन्धि-पत्र भेजना, यह बात तो बिल्कुल गलत और हमारे पूर्वजों के निर्मल चरित्र को कलङ्कित करने का विदेशी-लेखकों द्वारा असफल प्रयास है। उन्होंने ऐसा एक भी पत्र अकबर को अपने हाथ से नहीं लिखा। अकबर ने ही कुटिलता का परिचय देने के लिये तथा पृथ्वीराज और सलीम को चिढ़ाने के लिये एक जाली-पत्र लिखवा कर उन दोनों को दिखाया था। इसकी पुष्टि पृथ्वीराज के पत्र का उत्तर देते समय महाराणाजी ने जो कुछ लिखा, उससे भली प्रकार हो जाती है। हां, दीर्घकाल तक युद्ध करते रहने पर भी जब महाराणा चित्तौड़ को वापस न ले सके तो उन्हें निराशा अवश्य हो गई थी और इसी लिये वे मरुभूमि के उस पार जाकर अपने एक नये राष्ट्र की नींव डालना चाहते थे; किन्तु पूज्य भामाशाह जैसे दानवीरों की अतुल धनराशी पाकर महाराणा जी का उत्साह पुनः बढ़ गया और उन्होंने देखते-देखते चित्तौड़ के अतिरिक्त और सभी किले अकबर से छीन कर अपने आधीन कर लिये और राज सुखों का उपभोग करने लगे।

द्वादश-परिच्छेद

महाराणा अमरसिंह !

सन् १५८६ ई० में, बाइस वर्ष तक निरन्तर मुगलों की प्रबल सेना का मुकाबला करते हुए अन्त में महाराणा प्रताप स्वाधीनता-संग्राम में पूर्ण विजयी हुए और केवल चित्तौड़ तथा मांडलगढ़ को छोड़कर मेवाड़ के अन्य सभी किलों पर उनका अधिकार हो गया। इस विजय से शत्रु-मित्र सभी के मुख से महाराणा प्रताप की प्रशंसा के शब्द निकले। अकबर भी मुक्त कण्ठ से उनकी प्रशंसा किये बिना न रह सका। महा युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद ११ वर्ष तक महाराणा ने मेवाड़ के सिंहासन पर निष्कंटक राज्य किया। शेष जीवन उन्होंने 'चावण्ड' नामक स्थानों में व्यतीत किया और वहीं पर सब प्रकार के सुख भोग करते, दान-पुण्य और पूजा पाठ करते तथा संसार भर में अपनी यश पताका फहराते हुए उन्होंने स्वर्गारोहण कर इस संसार का त्याग किया। मरने से पहले उनके हृदय में चित्तौड़-उद्धार की चिन्ता ने उन्हें बहुत कष्ट पहुंचाया। सालुम्ब्राधिपति के पूछने पर उन्होंने बताया कि, मुझे इस समय चित्तौड़ उद्धार के अतिरिक्त और कोई चिन्ता नहीं है। मुझे इस बात का विश्वास नहीं कि मेरे बाद युवराज अमरसिंह इस स्वतन्त्रता को, जिसे मैंने इतने कष्टों और

बलिदानों से प्राप्त की है स्थिर रख सकेगा। यदि कोई मेरे पीछे राष्ट्र की गौरव-रक्षा का मुझे विश्वास दिला देता मैं सुख पूर्वक प्राण विसर्जन कर सकूंगा। महाराणा की अन्तिम इच्छा सुनते ही उपस्थित सरदारों ने म्यानों से तलवारें खींच लीं और बाप्पा रावल के सिंहासन तथा अपनी तलवारों की शपथ लेकर बोले,—"महाराणा जी शरीर में एक बूंद रक्त रहते हुए भी हम मेवाड़ के गौरव की रक्षा करेंगे!" साथ ही अमरसिंह ने भी अश्रु पूर्ण आंखों को पोंछकर कहा, "पिताजी, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुर्क शाही के आगे कभी सिर न झुकाऊँगा!" यह सुनकर महाराणा प्रताप परम सन्तुष्ट हुए और उसी समय उन्होंने देह त्याग कर दिया। मेवाड़ का जगमगाता हुआ सूर्य अस्त हो गया और उपस्थित जन-समूह फूट-फूट कर रो उठा।

चावण्ड से प्रायः डेढ़ मील पर 'बंडोली' गाँव के निकट बहने वाले एक नाले के तट पर महाराणा जी का दाह-संस्कार किया गया और वहीं पर उनके स्मारक-रूप में संगमर्मर की एक छत्री बनाई गई, जो आज भी जीर्णावस्था में पड़ी हुई उस महान् नेता, हिन्दू-धर्म के रक्षक, गो-ब्राह्मणों के प्रतिपालक स्वाधीनता के पुजारी, सिद्धान्त के पीछे मर मिटने वाले अचल-व्रती और सच्चे राष्ट्र-तपस्वी महाराणा की याद दिलाकर पुकार-पुकार कर यह कह रही है—"हिन्दुओ, आंखें खोलो और उस आदर्श-महापुरुष के पद-चिन्हों पर चलकर अपने मान-मर्यादा और

जातीय-गौरव की रक्षा के लिये अपने प्राणों को भी उत्सर्ग कर दो।"

सन् १५९७ ई० में राजपूत-कुल-गौरव महाराणा प्रताप के सत्तरह पुत्रों में से सबसे बड़े पुत्र अमरसिंह मेवाड़ के महाराणा बने। महाराणाप्रताप की विपत्तावस्था में कुमार अमरसिंह ने भी पर्वतों और जंगलों में विपत्ति के दिन व्यतीत किये थे। महाराणा प्रताप के परलोक सिधारने के बाद से आठ वर्ष तक अकबर जीवित रहा। सन् १६०५ ई० में अकबर भी कब्र में जा बसा और उसके स्थान पर उसका बेटा जहांगीर दिल्ली के तख्त पर बैठा। उसने हिन्दुओं के धन का शोषण करने का एक और उपाय ढूंढ निकाला। अभी तक हिन्दुओं को हिन्दू होने के अपराध में जजिया-कर देना पड़ता था, अब उन्हें मरकर भी 'श्मशान-कर' के रूप में शव का दाह-संस्कार करते समय १।) देना पड़ता। इस कर का विरोध करने के लिये जयपुर-राज्य के मैंड़ नामक नगर से महात्मा भगोपालदास जी दिल्ली जाकर जहांगीर की राज सभा में चाकू से पेट चीर कर बलिदान हो गये। गोपालदास जी की स्मृति-समाधि राधाकान्त मन्दिर के निकट बनी हुई है, जो उस अमर बलिदान का अब भी स्मरण करा रही है। महाराणा अमरसिंह ने गद्दी पर बैठ कर खेतों की पैमाइश नये ढंग से कराई और सरदारों को नये ढंग से भूमिवृत्ति दी, जिसका वर्णन अनेकों शिला-लेखों में पाया जाता है। परन्तु महाराणा प्रताप ने जो आशङ्का प्रकट की थी

वह ठीक ही निकली। शान्ति और विश्राम अमरसिंह के लिये अनर्थकारी हो गया। पिता की आज्ञा की अवहेलना कर उन्होंने पिशोला-नदी के किनारे की कुटियां तोड़कर 'अमर-महल' का निर्माण करवाया। बहुत-से खुशामदी भी आमि और सुख-चैन में दिन काटने लगे। जहांगीर के तख्त पर बैठते ही जो रणभेरी मेवाड़ की भूमि पर बजाई, उससे अमरसिंह की सुख-निद्रा भङ्ग हो गई। गद्दी पर बैठने के तीन-चार वर्ष बाद ही जहांगीर ने एक बड़ी सेना सजाकर मेवाड़ पर चढ़ाई की।

शत्रु-सेना सिर पर आई देखकर अमरसिंह बड़े सङ्कट में पड़ गये। एक ओर ऐश्वर्य ने उन्हें आलस्य और निष्कर्मण्यता की सजीव मूर्ति बना दिया था और दूसरी ओर उन्हें अपने पूर्वजों के गौरव की चिन्ता भी थी। उनके खुशामदी-मित्रों ने उन्हें राय दी कि व्यर्थ ही रक्तपात कर राजपूत-वीरों की संख्या घटाने से क्या लाभ? जब सभी हिन्दू-नरेशों ने दिल्ली के बाद-शाह की अधीनता स्वीकार कर ली है तो मेवाड़ कैसे स्वा-धीन रह सकता है! उनकी यह बातें महाराणा अमरसिंह को बुरी अवश्य लगीं; किन्तु वे आलसी इतना हो चुके थे कि उन्होंने प्रतिवाद तक न किया। जब मेवाड़ के सरदारों ने सुना कि जहांगीर दल-बल सहित बढ़ा चला आ रहा है और मेवाड़ के राणा तब भी विलास-भवन में पड़े आनन्दोत्सव मना रहे हैं; तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ और वे सब मिलकर 'अमर-महल' में पहुंचे। उन्होंने महाराणा से कहा,—"शत्रु सेना लेकर चढ़ आया

है और आप अभी तक आनन्दोत्सव मनाने में ही व्यस्त हो रहे हैं क्या इसी प्रकार आप स्वर्गीय महाराणा प्रताप की आज्ञाओं का पालन करना चाहते हैं ?" सालुम्बा-सरदार की ओजस्वी बातें सुनकर अन्य सभी सरदार उत्साहित हो उठे; परन्तु अमरसिंह नीचा मुंह किये बैठे ही रहे। वीर-वर चन्द्रावत सरदार ने गलीचे पर पड़े हुये एक पीतल के गोले को उठा कर दीवार पर लगे हुये विदेशी-दर्पण पर इस जोर से मारा कि वह चूर-चूर होगया। इसके बाद राणा का दाहिना हाथ पकड़ा और बड़े जोर से कहा कि—सरदारों, इन विलास सामग्रियों में आग लगादो, और स्वर्गीय महाराणा प्रताप के पुत्र को घोड़े पर चढ़ा कर युद्ध स्थल की ओर ले चलो, जिससे हमारे महाराणाओं के पवित्र-वंश में किसी प्रकार का धब्बा न लगे।

सालुम्बा-नरेश के इस आचरण से पहले तो अमरसिंह बड़े रुष्ट हुये और उन्हें राज द्रोही एवं राजापमानी तक भी कह डाला। परन्तु देवी के मंदिर में पहुंचने के बाद उनका सारा क्रोध जाता रहा और अपनी सेना सहित बड़े उत्साह से रण स्थल की ओर चल दिये। देवीर के मैदान में पहुंचकर उन्होंने मुग़ल-सेना पर आक्रमण कर दिया। दोनों दलों में भीषण युद्ध हुआ। दोपहर तक तो पता ही न चला कि किस दल की हार या जीत हो रही है। सन्ध्या समय होते-होते वीर-राजपूतों ने प्रायः बहुत-सी मुग़ल-सेना काट कर धरती पर बिछा दी। जो बचे वे रणस्थल से भाग गये। सन् १६०८ ई० में. सम्राट् ... ला

यह युद्ध देबीर के मैदान में राणा अमरसिंह के साथ हुआ। इस युद्ध में अमरसिंह के चाचा वीर-वर करण ने बड़ी अद्भुत वीरता दिखाई। युद्ध में विजयी होकर महाराणा अमरसिंह उदयपुर लौटे और कई दिनों तक आनन्दोत्सव मनाते रहे। अमरसिंह के मन से विलासिता के भाव अलोप हो गये।

यद्यपि मुगल-सेना बुरी तरह से पराजित होकर दिल्ली लौट गई थी, किन्तु जहांगीर हतोत्साह नहीं हुआ था। उसने पुनः अपनी सेना सजाकर अब्दुल्ला नामक सेनापति के साथ मेवाड़ पर चढ़ाई कर दी। रणपुर के पहाड़ी भाग में राणा अमरसिंह जी अपनी सेना लेकर शत्रुओं से जा भिड़े। शीघ्र ही यवन सेना के छक्के छुड़ा दिये गये और इस युद्ध में भी सारी मुगल सेना काट डाली गई। इस युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद राणा अमरसिंह ने और भी कई स्थानों पर यवनों के साथ युद्ध किया। जहांगीर इस बार भी हार खा कर बहुत दुःखी और लज्जित हुआ। उसे यह देखकर महान् आश्चर्य हुआ कि थोड़े से राजपूत कैसे इतनी बड़ी मुगल सेना को काट डालते हैं ?

फिर तीसरी बार एक बहुत बड़ी सेना सजाई गई परन्तु इस बार जहांगीर ने कूटनीति से काम लिया। राणा अमरसिंह के चाचा सगरसिंह जो एक मुसलमान स्त्री के प्रेम में फँसकर स्वयं भी मुसलमान हो गये थे, जहांगीर ने उन्हें चित्तौड़ के सिंहासन पर बैठाते हुए सारे मेवाड़ में यह घोषणा करा दी कि चित्तौड़ की गद्दी का अधिकारी ही मेवाड़ का महाराणा

कहलायेगा, दूसरा नहीं। राजपूत कुल कलङ्की सगरसिंह अपने पूर्व पुरुषों के नष्ट हुए गौरव की भस्म पर मुगल दासत्व का मुकुट धारण कर चित्तौड़ के पवित्र सिंहासन पर बैठ तो गये, परन्तु उन्हें रात दिन उस दुर्ग के भीतर महाराणा लक्ष्मणसिंह, रायमल और संग्रामसिंह आदि वीर शासकों की भयानक मूर्तियां दिखाई दिया करती और उन्हें रह रह कर अपने पूर्वजों के गौरव पूर्ण जीवन चरित्रों का ध्यान हो आता। चित्तौड़ में एक रात भी वे सुख की नींद न सो सके। उन्हें बड़े बड़े डरावने स्वप्न आया करते, जिनसे चौंक चौंक कर वे पलंग पर उठ बैठ जाते और घन्टों उन्हीं स्वप्नों के विषय में सोचते रह जाते थे।

एक रात उन्होंने स्वप्न में देखा—कोई भव्य मूर्ति उनके सिरहाने खड़ी हुई कह रही थी कि रे अधर्मी, तू इस पवित्र सिंहासन पर बैठने योग्य कदापि नहीं है। इस सिंहासन पर तो वही कुल भूषण बैठ सकता है, जिसे अपने उच्च वंश की मर्यादा का पूरा पूरा ध्यान हो, जो अपने देश, जाति, धर्म और समाज का रक्षक हो तथा जो स्वाधीनता संग्राम में हँस हँस कर अपने प्राणों की आहुति देने को सदैव तैयार रहे। तू शीघ्र इस स्थान को किसी ऐसे ही पुरुष को सौंप कर यहां से चला जा, अन्यथा तेरा कल्याण नहीं।

दूसरे दिन भोर होते ही सगरसिंह ने अपने भतीजे महाराणा अमरसिंह को बुला कर वहां का राज्य उन्हें सौंप दिया और

स्वयं जंगलों में जाकर रहने लगे। परन्तु उन्हें वहां भी शान्ति न मिली। जहांगीर को जब यह बात मालूम हुई तो उसने सगरसिंह को दरबार में बुला कर बहुत बुरा भला कहा। सगरसिंह इस अपमान को सह न सके और उन्होंने बड़ी छुरा भोंक कर अपनी हत्या कर डाली। इस प्रकार उन्होंने अपने पाप का प्रायश्चित किया।

महाराणा अमरसिंह चित्तौड़ पाकर इतने प्रसन्न हुये कि उन्होंने घर घर आनन्दोत्सव मनाने की आज्ञा दी। कई दिनों तक बड़े समारोह से उत्सव मनाया गया। तभी सूचना मिली कि जहांगीर की प्रबल सेना मेवाड़ पर चढ़ाई करने के लिये आ रही है। महाराणा अमरसिंह पहले से सावधान थे। उन्होंने शीघ्र ही अपनी सेना को तैयार रहने की आज्ञा दी। परन्तु उसी समय एक नई समस्या वहां और पैदा हो गई। मेवाड़ का यह नियम था कि प्रत्येक युद्ध में हर बार सेना की अगवानी (हिरोल) भिन्न भिन्न सरदारों को बांट बांट कर मिला करती थी। इस समय भी प्रयाण करते समय दो प्रधान वीरों में परस्पर इस बात की प्रतिद्वन्द्विता उपस्थित हुई कि हिरोल किसे मिले। चन्द्रावत सरदारों ने यह कह कर हम बड़े हैं, हमारी सेवायें अधिक हैं—हिरोल मांगी। परिणाम यह हुआ कि हर दो ओर से तलवारें निकल पड़ीं। महाराणा जी ने गृह कलह उपस्थित देखकर कहा कि अन्तला दुर्ग पर पहुंच कर जो सर्व प्रथम उस पर अधिकार करेगा उसी को हिरोल मिलेगी।

आज्ञा पाते ही दोनों दल उस ओर रवाना हो गये। अन्तला दुर्ग में प्रवेश करने का केवल एक ही मार्ग था और उसी पर मुसलमानों का कड़ा पहरा लगा हुआ था। भोर होते ही शक्तावत अन्तला दुर्ग के द्वार तक जा पहुंचे। यवन सेना पहले से तैयार बैठी थी। दीवारों पर चढ़कर सैनिकों ने लड़ाई शुरू कर दी। चन्द्रावत सरदार मार्ग भूल जाने के कारण अन्तला कुछ विलम्ब से पहुंचे। उनके पास कुछ सीढ़ियें थीं। उन्होंने सीढ़ियों को किले की दीवार के साथ लगा दिया। यवनों की गोली से चन्द्रावत सरदार मारे गये और उनका शव किले के भीतर गिर गया। जब शक्तावत सरदार ने यह सुना कि चन्द्रावत किले के भीतर पहुंच रहे हैं, तो उन्होंने महावत को हाथी बढ़ाने की आज्ञा दी, किन्तु दरवाजों के दोनों कपाटों में लोहे की बड़ी बड़ी कीलें गड़ी होने के कारण हाथी चिंघाड़ मार मार कर वापस लौट आता था। शक्तावत सरदार हाथी पर से नीचे उतर पड़े और बड़ी बड़ी कीलों के सामने छाती अड़ा कर बोले—तुरन्त हाथी को आगे बढ़ाओ, यदि देर की तो सबसे पहले तेरा ही संहार करूँगा। सुनते ही महावत ने एक जोर का अंकुश मार कर हाथी को आगे बढ़ाया। हाथी के प्रबल धक्के से द्वार के कपाट टूट कर अलग जा गिरे और लोगों ने देखा शक्तावत सरदार की क्षत विक्षत देह प्राणहीन हो नीचे पड़ी थी। शक्तावत वीर अपने सरदार की मृत्यु की कुछ परवाह न कर उनके शव पर पांव रखते हुए एक एक कर अन्

किलेके भीतर घुस गये। शक्तावतों को इस अपूर्व आत्म बलिदान ने भी उन्हें हिरोल का सम्मान प्राप्त न करने दिया। चन्द्रावत सरदार का शव उनसे पहले ही गोली खाकर किले के भीतर जा पहुंचा था। अतः सेना का भार बांदा जी को दिया गया। भीतर पहुँचते ही उन्होंने चन्द्रावत सरदार के शव को दुपट्टे में बांध कन्धे पर लाद कर मुगल सेनापति के महल की छत पर फेंक दिया और वहां मेवाड़ की विजय पताका फहरा दी। जिस समय शक्तावत सरदार ने जय जयकार का शब्द सुना था, उस समय बाँदाजी महल की छत पर खड़े होकर कह रहे थे कि हिरोल चन्द्रावतों ने ही पाई। शक्तावत सरदार सिर झुकाये हुये वापस लौट आये।

जिस शक्तावत-सरदार ने द्वार पर अपूर्व आत्म-त्याग दिखाया, उसका नाम बल्लाजी था। इस विजय की सूचना पाते ही महाराणा अमरसिंह स्वयं अन्तला-दुर्ग पहुंचे और अपने हाथ से उन्होंने बल्ला जी का दाह-संस्कार किया। वीर-वर बल्ला जी के ही समय से 'दूना दातार चौगुना झुझार खुरासानी सुलतानी का अग्गल' कहकर उनके वंशधरों का सम्मान आज तक भी मेवाड़ में किया जाता है। धन्य हैं वे वीर-राजपूत!

इधर अजमेर में जहाँगीर ने युद्ध की तैयारी करने में अपनी सारी बुद्धि लगादी। बादशाह ने स्वयं सारी सेना एकत्रित कर अपने पुत्र परवेज को उसके साथ भेजा और कहा कि इस बार की तुम्हारी वीरता की परीक्षा है। साथ ही उसने अपने पुत्र

यह भी समझा दिया कि यदि महाराणा या उनके पुत्र कोई भी तुमसे मिलने आवें, तो हर तरह की खातिरदारी से काम लेना याद रखना, बादशाह जैसे एक बादशाह के साथ पेश आते हैं; उस बर्ताव में किसी तरह का अन्तर न आने पावे। इस सेना को भेजने के बाद जहाँगीर को पूर्ण आशा हो गई थी कि मेवाड़ इस बार अवश्य जीत लिया जायेगा। परन्तु उसकी आशा धूल में मिल गई। मेवाड़ के देश भक्त राजपूत-वीरों ने मुगल सेना के दाँत खट्टे कर दिये। खमनौर के पहाड़ी-मार्गों में घिर कर यवन-सेना को बुरी तरह से परास्त होना पड़ा। हजारों सैनिक मार डाले गये, जो बचे वे अपनी जान लेकर भाग गये। पर्वेज भागते समय पहाड़ों और जंगलों में ऐसा फँसा कि बहुत दिनों तक बाहर ही न निकल सका। यदि महाराणा चाहते तो उन्हीं पहाड़ों में घेर कर उसे भी समाप्त कर डालते। परन्तु भागते हुये शत्रु पर हाथ उठाकर क्षत्रिय-वीर अपनी तलवारों को अपवित्र नहीं करते!

जब पर्वेज हार कर जहांगीर के पास पहुंचा, तो उसने अपने पुत्र को बहुत-कुछ बुरा भला कहा और पुनः एक बड़ी सेना सजा कर मुहब्बतखां के साथ उसे युद्ध करने भेज दिया। इस बार भी मुगल-सेना हार कर उदयपुर लौटी और पर्वेज का पुत्र इस युद्ध में मारा गया। इस तरह सत्रह बार महाराणा अमरसिंह को मुगल सेना का मुकाबला करना पड़ा और हर बार उन्होंने शत्रुओं की भयानक सेना को काट कर यमपुर भेज दिया।

अट्ठारहवीं बार खुर्रम बड़ी धूमधाम से मेवाड़ पर सेना लेकर चढ़ा। राणाजी ने जब इस आक्रमण और मेवाड़ की वर्तमान अवस्था पर विचार किया तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। कोष में धन नहीं, दुर्ग में सेना नहीं और पहले वाले युद्ध-निपुण सामन्त गण भी अब नहीं थे। तो भी, वे थोड़ी बहुत बची हुई सेना को लेकर युद्ध में कूद पड़े। किन्तु इस बार के युद्ध में उन्हें सफलता न मिल सकी। उदयपुर के उत्तर दिशा में पहाड़ों के नीचे कुछ झोपड़ियों की एक छोटी सी बस्ती थी, जिसका नाम 'राजन चौकी' था। राणा जी युद्ध से लौट कर वहीं चले गये। उसके बाद वे राजधानी को वापस न लौटे। बस्ती की झोपड़ी के भीतर महाराणा जब से घुसे, तब से बाहर न निकले। वहीं तप करते हुए परमधाम को सिधारे।

खुर्रम ने युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद महाराणाजी के पास कहला भेजा कि आप जिन शर्तों पर चाहें सन्धि कर सकते हैं। उत्तर में महाराणा अमरसिंह ने दूत भेज कर कहलाया कि मैं अपने पितृ-गौरव की रक्षा करना अपना मुख्य धर्म समझता हूँ। यदि उसकी रक्षा के साथ देश के लिये सन्धि करना पड़े तो की जा सकती है। बादशाह ने अपने पंजे की छाप लगाकर राणा अमरसिंह के पास एक पत्र लिखा कि आपके गौरव की सदा रक्षा की जायेगी। सन्धि की शर्तों में आपके, आपकी [illegible] कि चित्तौड़ के [illegible] महाराणा

बादशाह के दरबार में कभी न जायेंगे, युवराज ही दरबार में जाया करेंगे। इस शर्त के अनुसार महाराणा अमरसिंह के पुत्र युवराज कर्ण दिल्ली पहुंचे और उन्हें राजपूतों में सर्वोच्च स्थान बादशाह के ठीक दाहिनी ओर दिया गया। बादशाह उनके स्वागत के लिये स्वयं उठा। बादशाह ने अपनी बेगम नूरजहां से युवराज कर्ण की भेंट कराई और जब वे मेवाड़ को वापस लौटे तो उस समय तक बादशाह १५ लाख के रत्न आभूषण, हाथी, घोड़े और अनेक बहुमूल्य वस्तुयें युवराज कर्ण को भेंट कर चुका था। इतना उच्च पद और सम्मान पाकर भी युवराज सुखी न हो सके। वे शुरू से आखिर तक लज्जित ही रहे, इसका उल्लेख स्वयं बादशाह ने अपने 'जहांगीर नामा' में किया है।

त्रयोदश-परिच्छेद

महाराणा राजसिंह

सन १६१६ ई० में महाराणा अमरसिंह के बड़े पुत्र युवराज कर्णसिंह मेवाड़ के महाराणा हुये। सन १६२१ ई० में उनका राज्याभिषेक हुआ। जिस दिन से इनका राज्य तिलक हुआ, ये स्वयं बादशाह के दरबार में न जाकर अपने पुत्र जगतसिंह को

वहां भेजने लगे। इनके राजत्व काल में मेवाड़ में पूर्ण शान्ति रही। यद्यपि सन्धि के अनुसार वे बादशाह के आधीन हो चुके थे, किन्तु इनके साथ बादशाह समानता का ही व्यवहार करता था।

कुछ कालोपरान्त खुर्रम ने राज पाने के लोभ से अपने पिता जहांगीर पर चढ़ाई की, तब महाराणा के भाई भीमसिंह ने उसे पूरी सहायता दी। अन्त में खुर्रम बादशाह से हार कर उदयपुर पहुंचा और महाराणा जी के पास बहुत दिनों तक रहा। राणाकर्णसिंह ने अपने समय में टूट-फूटे किलों की भी मरम्मत कराई। सन १६२८ ई० में उसकी मृत्यु के बाद उनके पुत्र जगत सिंह गद्दी पर बैठे। उनके महाराणा बनने के थोड़े दिन बाद ही जहांगीर की मृत्यु हो गई। 'बादल-महल में दिल्ली के सामन्तों-सरदारों और अन्य सब राजाओं ने मिलकर खुर्रम को शाहजहां के नाम से दिल्ली के तख्त पर आरूढ़ किया। शाहजहां कुछ दिन उदयपुर रहकर दिल्ली चला गया। उदयपुर में शाहजहां के लिये बहुत उत्सव मनाये गये, क्योंकि वह महाराणा जगतसिंह का पगड़ी-बदल भाई बन गया था। राणा जगतसिंह २६ वर्ष तक मेवाड़ में निष्कंटक राज्य किया। इन्होंने अपने जीवन-काल में जग-निवास, जग-मंदिर आदि बड़े-बड़े महलों का निर्माण करवाया था। चित्तौड़ की किले बन्दी और दुर्ग की मरम्मत भी इन्होंने कराई। महाराणा जगतसिंह का विवाह मारवाड़ की राजकन्या से हुआ था। इनसे दो पुत्र हुये

थे जिनमें से बड़े का नाम राजसिंह था।

अपने पिता के परलोकवासी होने के उपरान्त महाराणा जगतसिंह के बड़े पुत्र राजसिंह मेवाड़ के महाराणा हुए। इनके राज्याभिषेक होने के समय वयोवृद्ध शाहजहां के चारों पुत्रों में राज्य पाने का झगड़ा ज़ोरों पर चल रहा था। मुगलों के हाथ महाराणा की आधीनता वास्तव में राणा कर्णसिंह के समय ही केवल एक पीढ़ी तक रही। मेवाड़पति महाराणा जगतसिंह के प्रतिनिधि भीमसिंह ने बादशाह के विरुद्ध खुर्रम का साथ दिया ही था और खुर्रम स्वयं भी उदयपुर ही रहता था। इसलिये उसी समय से मेवाड़ के महाराणा मानों एक तरह से स्वतन्त्र हो गये थे। शाहजहां के शासनकाल में उदयपुर और दिल्ली का सम्बन्ध आपस में बहुत अच्छा और मित्रता पूर्ण रहा। महाराणा किसी बात में भी दिल्ली के बादशाह से नीचे नहीं रहे। वरन्च बादशाह के चारों पुत्रों ने महाराणा से सहायता की भिक्षा मांगी थी। दारा सबसे बड़ा पुत्र होने के कारण दिल्ली के तख्त का अधिकारी था, इसीलिये महाराणा ने उसे सहायता दी। उस समय प्रतापी राजसिंह का लोहा प्रायः सब हिन्दू राजा मानते थे। फतेहाबाद के मैदान में जो युद्ध हुआ, उसमें दारा हार गया और औरङ्गजेब को विजय प्राप्त हुई। अतः सबसे छोटा होकर भी वही बादशाह हुआ।

मारवाड़ के राठौर कुल में उन दिनों बहुत से विभाग हो गये थे। जिन में से एक ने 'रूपनगर' में निवास किया।

रूपनगर मुगलों के आधीन था। आरम्भ से वहां के राठौर भी मुगलों के सामन्त बनकर रहते थे। इन राठौर सरदारों में से एक राठौर सरदार की प्रभावती नामक बहुत रूपवती कन्या थी। जब औरङ्गजेब ने प्रभावती के रूप लावण्य की बात सुनी तो उसके मुख में पानी भर आया और वह उससे विवाह करने के लिये लालायित हो उठा। प्रभावती पहले ही महाराणा राजसिंह की वीरता पर मुग्ध होकर मन ही मन उन्हें अपना पति मान बैठी थी। औरङ्गजेब ने प्रभावती के साथ विवाह करने का प्रस्ताव रूपनगर के राठौरों के पास भेज दिया और साथ ही दो हजार युद्ध सवार भी उसने वहां भेज दिये। औरङ्गजेब के इस दुःसाहस को देख प्रभावती आपाद मस्तक जल उठी। उसने अपने पिता से पूछा, इस विपत्ति से छुटकारे का कोई उपाय भी है? उसके पिता ने संक्षेप में उत्तर दिया—विवाह या मृत्यु! किन्तु मृत्यु एक ऐसी अप्रिय वस्तु है, जिसे सरलता से कोई ग्रहण करना पसन्द न करेगा। इसलिये उन्होंने प्रभावती को औरङ्गजेब का प्रस्ताव मान लेने की ही राय दी। परन्तु प्रभा एक हिन्दू कन्या और हिन्दू भी एक राजपूत वीराङ्गना! भला कैसे उस क्षुद्र म्लेच्छ की मनःकामनापूर्ति होना स्वीकार कर सकती थी? और ऐसी अवस्था में जबकि वह बहुत पहले ही महाराणा राजसिंह जैसे प्रतापी महापुरुष को पतिरूप में अपने हृदय पट पर उतार चुकी थी—दोबारा किसी के साथ विवाह प्रस्ताव पर गौर करना उसके लिये नितान्त असम्भव ही था। किन्तु

कन्या एक बार जीवन में केवल एक बार ही अपना पति चुनती है।

प्रभावती ने म्लेच्छ के हाथ से अपनी रक्षा का अन्य कोई न देखकर महाराणा राजसिंह को एक पत्र लिख कर अपने पुरोहित के हाथ महाराणा जी के पास भेज दिया। उसमें लिखा था "हिन्दू कुल सूर्य एक राजेश्वर पूज्य श्री महाराणा जी! यद्यपि मेरा आज तक आपसे साक्षात्कार नहीं हुआ है, किन्तु आपकी वीरता एवं धर्म परायणता की ख्याति सुनकर मन ही मन मैं आपको पति रूप में वरण कर चुकी हूँ। इस नाते आप मेरे स्वामी और मैं आपकी स्त्री हूँ। म्लेच्छ शासक औरङ्गजेब मुझे लेने के लिये आ रहा है। महाराज, क्या राजहँसनी को एक कौवे की सहेली बनाना होगा? क्या राजपूतों की कन्या एक विधर्मी की अंक शायिनी बनेगी? राणाजी, तब इसका अर्थ होगा कि गौरवशाली शिशोदिया की विवाहिता कुल वधु हिन्दूपति महाराणाजी की अर्द्धाङ्गिनी को पापी औरङ्गजेब के महलों की शोभा बनना पड़ेगा। क्या इसे आप देखना पसन्द करेंगे? यदि आपकी भुजाओं में बल नहीं है, हृदय में अपने जातीय गौरव की रक्षा करने की उमँग नहीं है, देह में पूर्वजों का रक्त नहीं है, शत्रु दमन करने की शक्ति और मान मर्यादा कायम रखने का उत्साह नहीं है तो देखिये—एक अबला, हिन्दू अबला को म्लेच्छ द्वारा अपहरण करते हुये देखिये! मैंने भी यह निश्चय कर लिया है कि यदि आपने इस विपत्ति से छुड़ा

कर मुझे अङ्गीकार न किया तो फिर विष ही मेरा उद्धार करेगा ।

पत्र पढ़ते ही महाराणा जी की आंखें रक्तपूर्ण हो उठीं । शिशोदिया कुल भूषण महाराणा राजसिंह की भावी पत्नि को पापिष्ट औरँगजेब आंख उठा कर देखे—ऐसा उस दुष्ट का दुःसाहस ! वे अभी मन ही मन इन बातों पर विचार ही कर रहे थे कि पास बैठे हुए चूड़ावत सरदार बोल उठे—"चुप क्यों हैं महाराणा जी ?" पत्र उनके हाथ में देते हुए राणाजी ने उसे उच्च स्वर में पढ़ने की आज्ञा दी ।

पत्र सुनते ही सब सरदारों की भुजायें फड़क उठीं । उन्हों ने एक-स्वर में चिल्लाकर कहा—"कदापि नहीं; ऐसा कदापि नहीं हो सकता ! हम मेवाड़ की भावी महारानी को प्राण रहते कदापि उस मलेच्छ के पास न जाने देंगे ।" उसी दिन रूपनगर से आये हुये पुरोहित जी को विदा करके महाराणा जी ने कुमारी प्रभावती को पूरा-पूरा विश्वास दिलाया कि क्षात्र-धर्म के गौरव की रक्षा अवश्य की जायेगी और उन्होंने सेना सुसज्जित करने की आज्ञा दे दी । रणभेरी के बजते ही सभी सामन्त और सरदार सभी देवी के मन्दिर में जाकर एकत्र होने लगे । राज-कवि भी लाल-वस्त्र धारण कर युद्ध में जाने को तैयार हो गये । चूड़ावत-सरदार तो तीन दिन ही हुये थे हाड़ी-रानी को ब्याह कर लाये थे । हाथों से कंकण भी न खुले थे, सुहाग रात्रि भी न मनाई थी कि रणभेरी सुनाई दी और वे युद्ध में

जाने को तैयार हो [illegible] की अवस्था केवल १६ वर्ष की थी। अर्द्धांगिनी, [illegible] पत्नी की ओर दृष्टिपात करते ही [illegible] मुख फीका पड़ गया। रानी जी के पूछने पर उन्होंने बताया,—"[illegible] नगर की राज-कन्या को औरङ्गजेब ब्याह ले जाने के लिये दिल्ली से चल पड़ा है, उसके साथ एक बहुत बड़ी सेना भी है। [illegible] कन्या की रक्षा के लिये युद्ध अनिवार्य हो गया है। प्रभावती महाराणा राज-सिंह को पति रूप में वरण कर चुकी है; अतः हमें आज ही जाकर बादशाह को आगे रोकना होगा। औरङ्गजेब के अपार सैन्य बल के कारण हमारा इस युद्ध में लौटना असम्भव ही जान पड़ता है। [illegible] हुये अभी केवल तीन दिन ही हुये हैं। [illegible] तुम्हारा ही ख्याल अधिक है। तुम अपने धर्म का पालन कर सकोगी या नहीं, इसमें भी सन्देह है।"

सुनते ही हाड़ी-रानी ने आश्चर्य-चकित हो उनकी ओर देखते हुये कहा, "ओह! आपको मेरा मोह रणयात्रा करने में बाधा पहुंचा रहा है। लीजिये, मैं आपके सामने ही अपने धर्म का पालन किये लेती हूं, आप निःशङ्क होकर अपने क्षात्र-धर्म और कर्त्तव्य का पालन करें!" और यह शब्द कहते ही हाड़ी रानी ने पति का चरण स्पर्श कर अपने हाथ से अपना सिर काट डाला। चूड़ावत-सरदार क्षण भर तक स्तब्ध-दिग्भ्रमित-से खड़े रहकर तुरन्त चैतन्य हो गये। माया-मोह का जाल, पत्नी

का सिर कटते ही छिन्न-भिन्न हो गया और उन्होंने अपनी परम प्रिये के सिर के बालों को दो भाग कर उसे अपने गले में बांध लियाँ। भट्ट-ग्रन्थों में लिखा है कि चूड़ावतजी रानी का सिर गले में बाँध कर जिस समय नंगी तलवार ले युद्ध करने निकले, तो ज्ञात होता था जैसे साक्षात् रुद्र-देव ने विधर्मियों का ध्वंस करने के लिये तैयारी की हो। वे क्रुध हो निकल पड़े शत्रुओं का दमन करने।

महाराणा राजसिंह भी पन्द्रह सौ घुड़सवारों को लेकर उन्हें द्वार पर आमिले। महाराणा भी अपने साथियों को लेकर ब्याह करने के लिये रूपनगर की ओर चले गये और चूड़ावत-सरदार अपनी सेना लेकरआगरा और रूप नगर के बीच मार्ग रोक कर जा डटे। उनसे कुछ ही दूर आगे बादशाह की सेना भी डेरा डाले था। औरङ्गजेब को जब यह मालूम हुआ कि चूड़ावत-सरदार उसका मार्ग रोके हुए पड़े हैं तो उसने कहला कर भेजा हम उदयपुर युद्ध करने नहीं, बल्कि रूपनगर विवाह करने जारहे हैं—इसलिए हमें आगे बढ़ने केलिये राह छोड़ दो। चूड़ावत-सरदार ने उत्तर में कहला भेजा,—किसी और जाओ, हम तुम्हारा मार्ग रोकने के लिये ही यहाँ पड़े हैं—यदि साहस है तो अपना रास्ता साफ़ कर लो। दूसरे दिन फिर बादशाह ने उन्हें धन-सम्पत्ति और जागीरों का लोभ दिखाते हुए कहा,—क्यों व्यर्थ रक्तपात करने को तैयार हुए हो, रास्ता छोड़ दो—हमें आगे चले जायें। सरदार ने तब भी न सुना और युद्ध

आरम्भ होगया। भीषण-संग्राम में चूड़ावत-सरदार को स्मरण हुआ कि वे महाराणा जी से प्रतिज्ञा कर आये हैं कि जब तक विवाह करके महाराणा रूपनगर से उदयपुर न पहुंच जायँगे, तब तक बादशाह का मार्ग रोककर उसे आगे नहीं बढ़ने देंगे। इस प्रतिज्ञा का ध्यान आते ही उन्हों ने बड़े जोर से औरङ्गजेब और उसकी सेना पर आक्रमण किया। चूड़ावत-सरदार का घोड़ा बादशाह के हाथी पर चढ़ गया और उन्हों ने उसे मारने के लिये ज्यूँ ही अपना भाला निकाला, त्यूँ ही औरङ्गजेब गिड़गिड़ा कर बोला,—क्यों मेरी जान लेते हो? अब तो विवाह का मुहूर्त भी यहीं पर पूरा हो गया। चूड़ावत बोले कि हाथ में कुरान लेकर शपथ खाओ कि दस वर्ष तक मेवाड़ पर चढ़ाई न करूंगा; इसके पीछे तुम्हारी इच्छा। प्रतिज्ञा कराकर ज्यूँ ही चूड़ावत जी ने अपना घोड़ा लौटाया उनका सिर एक मुग़ल सेनापति ने काट डाला। भट्ट-कवियों ने लिखा है कि सिर कट कर आने के बाद भी चूड़ावत-सरदार उस तमाम रात लड़ते ही रहे। पूर्णिमा की रात्रि शेष होने पर घोड़े की पीठ से चूड़ावत-सरदार का सिर नीचे गिर पड़ा।

इस युद्ध में सैंतीस हजार के लगभग राजपूत मारे गये असंख्य मुग़ल-सैनिक काम आये। महाराणा राजसिंह ठीक समय पर रूपनगर पहुंच गये थे और वहां राजकुमारी से विवाह करने के उपरान्त वैशाख बदी प्रतिपदा को विदा होकर सकुशल उदयपुर आ पहुंचे। महाराणा जी ने उदयपुर पहुंच कर ही

चूड़ावत की मृत्यु का संवाद सुना। आज पर्यन्त चूड़ावत-सरदार की स्मृति में जो समाधी बनाई गई थी, उसकी 'जुमार जी' के नाम से लोग पूजा करते हैं।

जिन दिनों औरङ्गज़ेब उदयपुर की सेना से युद्ध करने में व्यस्त था, उन्हीं दिनों दूसरी ओर भारत के राजनैतिक क्षेत्र में एक भारी तूफ़ान उठ रहा था। औरङ्गज़ेब के आधीन राजपूतों में सर्व प्रधान जयपुर-नरेश जयसिंह और जोधपुर के राठौर-वंशीय राजा यशवन्तसिंह थे। इन दोनों का बल इन दिनों इतना अधिक बढ़ गया था कि यदि दोनों एक साथ मिल कर भारत की खोई हुई स्वाधीनता को प्राप्त करना चाहते, तो तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि भविष्य में भारत का रूप-रङ्ग बदला हुआ ही होता। औरङ्गज़ेब इन दोनों हिन्दू-राजाओं के बढ़ते हुये प्रभाव को देख डर गया और उसने इन्हें समाप्त कर देने का ही अपने मन में निश्चय किया। उसने यशवन्तसिंह को काबुल और जयसिंह को दक्षिण की ओर युद्ध करने भेज दिया। कुछ ही दिनों बाद यह समाचार मिला कि यशवन्तसिंह विष देकर मार डाले गये। यशवन्तसिंह का विवाह उदयपुर में हुआ था। काबुल जाने के पूर्व उन्होंने राठौर-सरदार वीर दुर्गादास को अपनी रानी और राजकुमार अजीतसिंह की रक्षा के लिये दिल्ली छोड़ दिया था। यशवन्तसिंह की मृत्यु का समाचार पाते ही औरङ्गज़ेब ने उनकी रानी और राजकुमार को कैद करने की आज्ञा दी। वीर-दुर्गादास और रानी जी, ने हाथ में

तलवार लेकर अपने धर्म और बालक की रक्षा की ओर वे दिल्ली छोड़ कर भाग निकले। दुर्गादास की सलाह से रानी ने महाराजा राजसिंह की शरण ली। महाराणा ने ऐसे विपद् के समय उनकी रक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया। उन लोगों का पीछा करती हुई मुग़ल-सेना सिर पर आ धमकी और जयपुर की पहाड़ियों में राठौर-वीर दिल खोलकर मुग़लों के साथ लड़े। दोनों ओर की सेनायें काम आईं; परन्तु राजकुमार, रानी और दुर्गादास उस समय तक उदयपुर पहुँच चुके थे! महाराणा ने कैलवाड़ा भिजवा कर उनकी रक्षा का पूरा प्रबन्ध कर दिया। औरङ्गज़ेब ने महाराणा से उन्हें वापस लौटाने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु महाराणा ने उसकी ज़रा भी परवाह न की और रानी अपने पुत्र और दुर्गादास को लेकर जयपुर चली गईं। वहाँ औरङ्गज़ेब से बदला लेने के लिये उन्होंने सब राजपूतों को एकत्र करना शुरू कर दिया।

औरङ्गज़ेब का शासन उन दिनों शिथिल होने लगा था और उसके कोष में धन का सर्वथा अभाव हो गया था। इस लिये उसने हिन्दुओं से जज़िया-कर वसूल करने की घोषणा की, जिससे सब हिन्दू औरङ्गज़ेब से असंतुष्ट रहने लगे और इसीलिये रानी जी का उसके विरुद्ध सेना तैयार करने का कार्य कहीं अधिक सुगम हो गया। महाराणा राजसिंह भी औरङ्गज़ेब की इस घोषणा का घोर प्रतिवाद किया, और उन्हीं दिनों; महाराष्ट्र-पति शिवा जी महाराज ने भी एक लम्बा पत्र लिख कर

औरङ्गजेब को जजिया-कर न लेने के लिये समझाने की चेष्टा की, पर वह भला कहाँ मानने वाला था। 'विनाश काले विपरीत बुद्धिः' के अनुसार उसने पहले मेवाड़ के ऊपर चढ़ाई करने के लिये अपनी सेनायें सजाईं। बंगाल के शाहज़ादा अकबर, काबुल से आजिम, दक्षिण से मुअज्जिम आदि सभी वापस बुला लिये गये और बड़ी सेना सजाकर उसने मेवाड़ पर चढ़ाई कर दी। महाराणा जी भी पहले से ही सावधान थे। उन्होंने अपनी सेना के तीन भाग किये। युवराज जयसिंह की अध्यक्षता में पहाड़ों की चोटियों पर कुछ सेना रखी गई। गुजरात और चारों ओर के भीलों से सम्बन्ध रखने के लिये, पश्चिमी पर्वतों की रक्षा का भार भीमसिंह पर सौंपा गया। महाराणा ने स्वयं नाइन की घाटियों में डेरा डाला। सैन्य-संचालन का भार शक्तावत-सरदार गरीबदास के ऊपर था। बादशाह ने पचास हजार सेना तहव्वरखां की अधीनता में अपने पुत्र अकबर के साथ उदयपुर की ओर भेजी। कुमार जयसिंह ने अपने सैनिकों को लेकर बड़े जोर से आक्रमण किया और सारी यवन-सेना काट डाली गई। कुछ बचे हुये सिपाहियों को लेकर अकबर अपने पिता के पास जाना चाहता था, किन्तु महाराणा ने उसका मार्ग रोक दिया। दूसरी ओर से उसने भागने की चेष्टा की, परन्तु वह तंग-घाटी में अभी थोड़ी ही दूर भाग कर गया था कि सहसा ऊपर से तीरों और बड़े-बड़े पत्थरों की वर्षा होने लगी। भीलों ने उसके बचे हुये साथियों को भी काट डाला।

आह. बेचारे अकबर को अपना प्राण बचाना दूभर हो गया। बचाव की और कोई सूरत न देख उसने कुमार जयसिंह से प्राण-दान देने की याचना की। कुमार का हृदय पिघल गया और उन्होंने उसे दूर तक पहुंचा दिया।

अपने पुत्र अकबर का समाचार पाते ही औरङ्गजेब खीज उठा और वह स्वयं उसकी सहायता के लिये एक बड़ी सेना लेकर आगे बढ़ा। परन्तु मुग़ल-सेना पहाड़ी मार्गों से इतना अपरिचित थी कि घाटियों में जाकर बुरी तरह फँस गई। भीलों और राजपूतों ने ऊपर से बड़े-बड़े पत्थर ढुलका कर उसे दोनों ओर से घेर लिया और उनका क्षय करना आरम्भ कर दिया। औरङ्गजेब के साथ उसकी बेगम और पुत्री भी थी। महाराणा जी के सैनिकों ने उन्हें पकड़ कर कैद कर लिया। परन्तु महाराणा जी ने बड़े सम्मान से उन्हें अपने महलों में पहुंचा दिया भट्ट-कवियों ने लिखा है कि शाहजादी कुमार जयसिंह पर बहुत प्रेम दिखाने लगी थी और उसने अपने विवाह का प्रस्ताव भी उनके आगे रखा था, किन्तु अनेक कारणों से महाराणा जी ने उसे स्वीकार न किया। औरङ्गजेब अपनी बेगम और शाहजादी के पकड़े जाने पर बहुत घबड़ाया; परन्तु उसका घबराना निर्मूल ही था। क्षत्रिय-वीर गौ, ब्राह्मण और स्त्रियों के रक्षक होते हैं, उन्हें कष्ट देने वाले नहीं। कुछ दिनों अतिथि-सत्कार करने के बाद महाराणा जी ने सम्मान सहित उन दोनों को अपनी सेना के साथ बादशाह के पास पहुंचा दिया।

सन् १६८० के मार्च महीने में औरङ्गजेब युद्ध में हारकर भाग गया और चित्तौड़ के पास रुक कर अकबर के साथ युद्ध जीतने की गोष्ठि करने लगा। औरङ्गजेब का दूसरा पुत्र मुअज्जिम भी दक्षिण से लौट कर उनसे यहीं आ मिला। वीरवर जयमल के वँशज सांवलदास ने मुगल-सेना पर राठोर-वँशीय सोलङ्की गोपीनाथ (रूपनगर) के राजा के साथ मिल कर भयानक आक्रमण किया। औरङ्गजेब अपनी रक्षा का कोई उपाय न देखकर बीच में ही भाग पड़ा और अपने पुत्र से कहता गया कि जब तक मैं दूसरी सेना न भेजूँ, तब तक यहीं लड़ते रहना। उसने अजमेर पहुंचकर एक बहुत बड़ी सेना तैयार की और खां-रुहेला की अध्यक्षता में चित्तौड़ भेज दी। सांवलदास ने मार्ग में ही इस सहायक सेना पर आक्रमण करके उसका अन्त कर दिया। खां-रुहेला भी मार डाला गया। चित्तौड़ और अजमेर के बीच में जितने भी स्थान मुगलों के आधीन थे, उन सबको सांवलदास ने बुरी तरह से लूटा। इधर महाराणा जी विजयोत्सव मनाने लगे और उधर भीमसिंह ने गुजरात पर चढ़ाई कर दी। मार्ग में ईदर-नगर मिला, उसे भी विध्वंस कर दिया। वहां का यवन-अधिकारी अपनी सेना लेकर भागा। भीमसिंह ने पट्टन, बड़नगर आदि स्थानों को लूटकर नष्टप्राय कर दिये। जब लूट मार अधिक हुई तो अधिकारियों ने घबराकर महाराणा जी से प्रार्थना की। महाराणा जी ने भीमसिंह को वापस बुला लिया, वे उस समय सूरत पर चढ़ाई करने आ रहे थे।

औरङ्गजेब बारम्बार युद्ध में पराजित हो जाने के कारण दब तो अवश्य गया, किन्तु उसके हृदय में प्रतिहिंसा की ज्वाला सदा धधकती ही रही। थोड़ा विश्राम लेने के उपरान्त ही उसने पुनः मेवाड़ पर चढ़ाई करने के लिये तैयारियां शुरू कर दीं। महाराणा जी उसके साथ उस समय तक छेड़-छाड़ न करना चाहते थे, जब तक कि वह स्वयं ही ऐसा न करे। परन्तु मेवाड़ के विजयोन्मत्त सामन्तगण अपने महाराणा के इस मत से संतुष्ट न हुये। वे प्रबल शत्रु को समूल नष्ट करना चाहते थे। दयालुदास नामक महाराणा के एक साहसी दीवान थे। उन्होंने बहुत सी घुड़सवार सेना एकत्र कर मालवा लूट लिया। वहां से देवास, माण्डू, चन्देरी आदि लूटते और यवनों का विध्वंस करते हुये वे वापस लौटे। मुसलमान इतना भयभीत हो गये कि अपनी स्त्री और पुत्रों को छोड़कर भाग गये। दयालुदास ने काजियों को पकड़ उनकी दाढ़ी-मूछें मुंडवाकर ही दयालुता का परिचय दिया। वापस लौट कर लूट का सब धन महाराणा जी को भेंट किया। तदोपरान्त कुमार जयसिंह को साथ लेकर दयालुदास ने शाहजादा आजम पर चढ़ाई की। वह हार कर चित्तौड़ से रणथंभोर की ओर भागा। इस बार महाराणा और उनके सामन्तों ने मेवाड़ के सभी स्थानों की मुगल-सेना को भगा दिया और मेवाड़-भूमि शत्रु हीन हो गई।

औरङ्गजेब लाख चेष्टायें करने पर भी महाराणा जयसिंह को नीचा न दिखा सका। तब उसने मारवाड़ पर चढ़ाई कर

दी। वह जानता था कि महाराज यशवन्तसिंह का छोटा पुत्र और रानी महाराणा जी की शरण में हैं। आक्रमण की सूचना पाते ही महाराणा राजसिंह मेवाड़ और मारवाड़ की सेनायें एकत्र कर गनोरा में शत्रु से जा भिड़े। दिल्ली की ओर से अकबर और तहव्वर खां की अध्यक्षता में मुग़ल-सेना भेजी गई थी। महाराणा जी की ओर से भीमसिंह ने एक विचित्र-खेल रच डाला। रात में लगभग पांच सौ ऊँट उन्होंने मुग़ल-सेना से खुलवा मँगाये और उन ऊँटों की पीठ पर बड़ी-बड़ी जलती हुई मसालें बांध कर उन्हें मुग़ल-सेना की ओर खदेड़ दिया। ऊँट एक-दूसरे की पीठ पर जलती हुई मशालें देखकर बड़े भयभीत हुये और चिल्ला-चिल्ला कर इधर उधर भागने लगे। ऊँटों की चिल्लाहट सुनकर सब सैनिक डर कर भाग खड़े हुये। इसी समय राजपूत-वीरों ने भी उनके ऊपर बड़े जोर का आक्रमण कर दिया। सारी मुग़ल-सेना काट डाली गई, जो बचे वे दिल्ली और अजमेर की ओर भाग गये। इसके कुछ ही दिनों बाद राजस्थान के सब नरेशों ने मिलकर औरङ्गजेब की जगह उसके बेटे अकबर को दिल्ली का अधिकारी बनाना चाहा, किन्तु वे सफल न हो सके।

औरङ्गजेब जैसा शक्ति-सम्पन्न बादशाह भी सदा महाराणा राजसिंह से भयभीत ही रहता था। उसने अनेक बार बड़ी-बड़ी सेनायें लेकर मेवाड़ पर चढ़ाइयां कीं, किन्तु हर बार उसे हार कर ही वापस लौटना पड़ा महाराणा राजसिंह बड़े

पराक्रमी, वीर श्रेष्ठ एवं हिन्दू धर्म की रक्षा करने वाले एक महा प्रतापी हिन्दू-नरेश थे। उन्होंने २७ वर्ष तक मेवाड़ पर निष्कंटक राज्य किया और पूर्ण-स्वाधीनता भोगते रहे।

चतुर्दश परिच्छेद

महाराणा जयसिंह !

सन् १६८१ ई० में क्षत्रिय कुल कमल दिवाकर वीर शिरोमणी मेवाड़ाधिपति महाराणा राजसिंह जी के स्वर्ग सिधारने पर उनके छोटे पुत्र जयसिंह मेवाड़ के महाराणा बने। यद्यपि जयसिंह जी के बड़े भाई भीमसिंह उस समय मौजूद थे, किन्तु चिर प्रचलित प्रथा का उल्लङ्घन होने का एक विशेष कारण था। मेवाड़ के महाराणाओं में यह प्रथा थी कि पुत्रोत्पत्ति के दूसरे दिन महाराणा अपने हाथ से शिशु के हाथ में 'अमरदूब' बांधा करते थे। राणा राजसिंह के कई रानियां थीं एक ही साथ दो रानियों के पुत्र हुये। भीमसिंह अपने छोटे भाई जयसिंह से कुछ घन्टे पहले पैदा हुए थे। इस कारण महाराणा दोनों के हाथ में एक ही समय 'अमर दूब' बांधने गये। जयसिंह की माता पर महाराणा जी का प्रेम अधिक होने के

कारण वे पहले उन्हीं के महल में गये। इसलिये जयसिंह के छोटे होने पर भी उन्होंने पहले उन्हीं के हाथ में 'अमर दूब' बांधी।

एक दिन महाराणा राजसिंह ने राजकुमार भीमसिंह के हाथ में नंगी तलवार देकर कहा कि इससे अपने भाई को मार डालो, जिससे भविष्य में भ्रातृ कलह का भय जाता रहे। वीर वर भीमसिंह का हृदय, अपने पिता की बात सुनते ही पिघल उठा। वे बोले—"मैं आपके चरण और राजसिंहासन की शपथ ग्रहण करके यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं आपके पीछे या आपके सामने कभी भी राज्य के लोभ से कोई झगड़ा नहीं करूँगा। जयसिंह ही मेरे सब अधिकारों का उपभोग करेगा और आपको विश्वास दिलाने के लिये मैं आज ही मेवाड़ छोड़कर बाहर चला जाऊँगा।" यह कह कर वे उसी दिन वहां से चले गये और दिल्ली पहुंचकर उन्होंने बहादुरशाह की सेना में एक उच्च पद ग्रहण किया। वे अल्पकाल के भीतर ही बहादुरशाह के प्रेम पात्र बन बैठे और काबुल के युद्ध में लड़ने जाकर वहीं पर वे मारे गये।

जयसिंह ने अपने शासन-काल में एक बहुत बड़ा तालाब बनवाया, जिसका नाम उन्होंने 'जय समद' रखा और उसी के तट पर 'जय-महल' का भी निर्माण कराया। महाराणा जयसिंह का विवाह परमार वंश की राजकुमारी कमला देवी के साथ हुआ था। एक विवाह उन्होंने हाड़ा वंश के सरदारों की कन्या के साथ किया था। उसी के गर्भ से कुमार अमरसिंह की उत्पत्ति

हुई थी। अमरसिंह की माता बड़ी रानी होने पर भी, महाराणा अपनी छोटी रानी कमला देवी को विशेष प्रेम करते थे।

महाराणा जयसिंह को शिकार खेलने का बहुत शौक था। वे बराबर जंगलों में जाकर सिंह का शिकार किया करते थे। महाराणा जब कभी कोई शेर मारते, उनके अनुचर बड़ी प्रसन्नता से उन शेरों को हाड़ा रानी के पास पहुंचाकर महाराणा जी की प्रशंसा किया करते। हाड़ा रानी प्रायः हर बार कह दिया करती कि शेर नहीं कोई गीदड़ मारा होगा। यह बात एक दिन राणा जी ने भी सुन ली और उन्हें रानी के ऊपर बहुत क्रोध आया पूछने पर रानी ने निर्भीकतापूर्वक उत्तर दिया, मैंने कोई गलत थोड़ा ही कहा है। महाराणा जी शेर रोज नहीं मारे जाते। यदि वास्तव में आपको शेर का शिकार खेलना है तो बूंदी के भयानक जंगल में चलिये, वहां आपकी वीरता की परीक्षा होगी। महाराणा जी की स्वीकृति पाते ही हाड़ा रानी ने अपने भाई को पत्र लिखकर शिकार का प्रबन्ध करने को कहा। निश्चित समय पर रानी और अन्य साथियों को लेकर महाराणा बूंदी के जंगल में जा पहुंचे। मचान बांधा गया और उस पर राणा जी रानी और उनके भाई बैठकर शेर की प्रतीक्षा करने लगे। शेर मांद से निकला। रानी जी के भाई ने उसे देखते ही सब से पहले गोली दाग दी। शेर घायल होकर इस जोर से उछला कि मचान के ऊपर जा पहुंचा। रानी जी बड़ी फुर्ती से अपनी कमर से कटार निकाल कर उस शेर से लिपट गई और उसके नीचे गिरते गिरते ही उसका काम समाप्त कर दिया। शेर मार कर

रानी जी ने महाराणा की ओर देखते हुए कहा—देखिये, शेर का शिकार ऐसा होता है ! महाराणा को बहुत लज्जा का अनुभव हुआ। वे रानी जी से पहिले भी अप्रसन्न रहते थे, इस घटना से तो उनकी अप्रसन्नता और भी बढ़ गई। किसी बात पर रुष्ट होकर रानी जी चिता जला कर वहीं भस्म हो गईं। महाराणा को चित्तौड़ अकेले ही लौटना पड़ा। रानी जी के भाई भी राणा जी से असंतुष्ट हो गये।

कुछ कालोपरान्त महाराणा जयसिंह कमला देवी को साथ लेकर जयपुर-राज्य के एक निर्जन स्थान में रहने लगे। कुमार अमरसिंह अपनी माता की मृत्यु से बड़े क्रुद्ध हुये। उन्होंने बूंदी से अपने मामा को लेकर उदयपुर पर चढ़ाई कर दी। यह सूचना पाते ही राणा जयसिंह को पुनः अपनी राजधानी लौटना पड़ा। युद्ध होने के पूर्व ही कुमार अमरसिंह को एक लिंगेश्वरजी के मंदिर में बुलाया गया और उनके साथ संधि हो गई। इस सन्धि के अनुसार महाराणा जो अपनी राजधानी को लौट गये और कुमार अमरसिंह 'जय-समद' के तटवर्ती महलों में रहने लगे। बीस वर्ष तक राज्य करने के बाद महाराणा जयसिंह स्वर्ग सिधार गये। राणा जयसिंह ने अपने स्वर्गीय पिता महाराणा राजसिंह के साथ रहते हुये जितनी वीरता से शत्रुओं के दांत खट्टे किये थे, उतनी वीरता अपने राजत्व काल में उन्होंने नहीं दिखाई। रानी कमलावती के मोह पाश में बंधकर वे कुछ भी न कर सके।

सन् १७०० ई० में महाराणा जयसिंह के पुत्र अमरसिंह सिंहासन पर विराजमान हुए। उन्होंने अपने शासन काल में दिल्ली के मुगल बादशाह के साथ प्रेम-पूर्ण व्यवहार रखा। उन दिनों दिल्ली के तख्त पर शाहआलम का अधिकार था। उसके साथ महाराणा जयसिंह की जो संधि हुई, वह इस प्रकार थी —चित्तौड़ के दुर्ग की मरम्मत करने में जो रुपया लगेगा, वह सब बादशाह के राजकोष से दिया जायेगा। गोहत्या निषेध कर दी जायेगी। मेवाड़ के जो स्थान बादशाह के आधीन थे, वे सब लौटा दिये जायेंगे। हिन्दू-धर्म सुरक्षित रखा जायेगा।

शिशोदिया-कुल की एक शाखा में राव गोपाल नामक एक राजपूत था, जो चम्बल-नदी के किनारे रामपुर और भनपुर का शासन सामन्त रूप से किया करता था। एक बार रावगोपाल अपने पुत्र को राज्य का भार सौंप कर दक्षिण की ओर लड़ने चला गया। उसका पुत्र राज्य के लोभ में पड़कर बादशाह से मिलकर मुसलमान होगया। और दिल्ली से वह बादशाह का आज्ञा-पत्र ले आया कि अपने पिता का राज्य वह स्वयं भोग करे। दक्षिण से लौट कर जब रावगोपाल ने अपने पुत्र की करतूत सुनी तो उसे बड़ा दुःख हुआ और उसने दिल्ली पहुंच कर बादशाह से उसकी शिकायत की; परन्तु बादशाह ने उसकी एक भी बात सुनने से साफ इन्कार कर दिया। अन्त में हारकर उसे महाराणा जी की शरण लेनी पड़ी। रावगोपाल की सहायता करने के कारण बादशाह महाराणा जी के ऊपर बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने एक बड़ी सेना भेज कर मेवाड़ पर चढ़ाई कर

दी; किन्तु सेना अभी मेवाड़ के पास तक भी न पहुंच पाई थी कि दक्षिण में विद्रोह उठ खड़ा हुआ और उस सेना को वहां जाने की आज्ञा देनी पड़ी।

सन १७०७ ई० में औरङ्गजेब की मृत्यु औरङ्गाबाद में होने के बाद उसके पुत्रों में तख्त के लिये लड़ाई शुरू हुई। महाराणा ने शाहजादा मुअज्जम का साथ दिया। धातनगर में भीषण युद्ध के बाद शाहजादा मुअज्जम की जीत हुई। वह शाहआलम बहादुर शाह के नाम से दिल्ली के तख्त पर बैठा। महाराणा अमरसिंह के उद्योग से तमाम राजपूत राजाओं ने यह प्रण किया कि भविष्य में कोई भी अपनी कन्याओं को मुग़लों से न ब्याहेगा। बादशाह ने राजपूत-कन्या पाने के लिये बड़ी चेष्टायें की, पर वह सफल न हो सका। इसी समय देश में वीर सिखों ने जोर पकड़ा और बहादुरशाह को उनके विरुद्ध लड़ने के लिये उत्तर की ओर जाना पड़ा। जयपुर और जोध-पुर के हिन्दू-राजाओं ने भी मुग़लों का साथ देना छोड़ दिया। राणा अमरसिंह जी के शासन-काल में सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य यही हुआ कि जब राजपूत राजाओं ने महाराणा जी को अपना प्रधान माना और महाराणा अमरसिंह जी ने जयपुर व जोधपुर के साथ विवाह-सम्बन्ध इस शर्त पर स्थापित किया कि वे मुग़लों को अपनी कन्यायें कदापि न देंगे। उदयपुर घराने की जो कन्यायें अन्यत्र ब्याही जायेंगी, उनके गर्भ से उत्पन्न होने वाले लड़के ही राज्य पाने के अधिकारी होंगे। यदि कोई कन्या होगी तो उच्च राजपूत-कुल में ब्याही जायेगी। इस

सन्धि से जयपुर और जोधपुर में बड़ा आनन्दोत्सव मनाया गया।

जोधपुर के शासक अजीतसिंह ने अपने रक्षक दुर्गादास-राठौर को किसी बात पर अपने राज्य से निकाल दिया, तो उन्होंने महाराणा जी की शरण ली। उन्होंने वीरवर दुर्गादास को बड़े आदर से अपने यहां रख लिया और प्रतिदिन उनके खर्च के लिये पांच सौ रुपया देने लगे। इसी बीच सैयद-वँश के लोगों ने बहादुरशाह को विष देकर मार डाला और फ़रुखसियर उसके स्थान पर बादशाह बना। उसने जब अजीतसिंह की निर्बलता का हाल सुना तो जोधपुर पर चढ़ाई कर दी। अजीतसिंह घबरा गया और तुरन्त उसने बादशाह से सन्धि कर ली। साथ ही राजपूतों के साथ की हुई सन्धि की कोई परवाह न करके उसने अपनी कन्या का विवाह भी बादशाह के साथ कर दिया। महाराणा जी को जब अजीतसिंह की कायरता और विश्वासघात का पता चला तो उन्हें हार्दिक दुःख हुआ। फ़रुखशियर ने ही एक अँग्रेज डाक्टर से राजपूत कुमारी के साथ विवाह करने के लिये अपनी एक भयानक बीमारी का इलाज कराया था और ठीक होने पर प्रसन्न होकर उसने अंग्रेजों को देश में व्यापार करने के बहुत-से अधिकार और सुविधायें भी दे दीं। इसी समय से भारत में बृटिश-शासन की नींव पड़ी थी।

फ़रुखशियर ने जब महाराणा की तैयारी और विरोध की बात सुनी तो उसने महाराणा से सन्धि का प्रस्ताव किया

और महाराणा को परस्पर की फूट के कारण उसे स्वीकार कर लेना पड़ा । इसी सन्धि के अनुसार हिन्दुओं पर से 'जज़िया' कर उठा लिया गया था । महाराणा सन्धि कर जंगलों में चले गये और सन् १७१६ ई० में परलोक सिधारे । उनके बाद उनके पुत्र संग्रामसिंह मेवाड़ के महाराजा बने । वे मुग़ल-बादशाह मुहम्मदशाह के तख्त पर बैठने के एक वर्ष पूर्व ही मेवाड़ के शासक बने थे । इनके शासन-काल में मुग़ल-साम्राज्य की अवस्था बड़ी शोचनीय हो चुकी थी । चारों ओर राज्य भर में अशान्ति, अव्यवस्था और विद्रोह की आग भड़क चुकी थी ।

महाराणा ने देश रक्षा के लिये अट्ठारह बार शत्रुओं के साथ युद्ध किया । वे बाप्पा रावल के घराने के अन्तिम महाराणा माने जाते हैं । उन्होंने अपने परिवार तथा सरदारों के बीच मितव्ययिता का प्रचार करने के लिये बहुत से नियम बनाये थे, जिनका वे स्वयं भी बड़ी दृढ़तापूर्वक पालन किया करते थे । एक बार, उन्होंने अपना एक ऐसा गांव किसी को दान कर दिया जिसकी आय से उनकी भोजनशाला में चीनी का खर्च पूरा हुआ करता था । एक दिन जब रसोइयों ने बिना चीनी के दही खाने को दी, तो वे बड़े क्रुद्ध हुये । किन्तु जब उन्हें बताया गया कि अमुक गांव महाराणा ने किसी को दान कर दिया है, तो वे बिना चीनी के ही दही खा कर उठ गये । उन्होंने १८ वर्ष तक राज्य किया और उनके शासन काल के बाद से ही मेवाड़ को घरेलू झगड़ों के कारण मराठों की शरण लेनी पड़ी ।

सन् १७३४ ई० में महाराणा संग्रामसिंह के चारों पुत्रों में सब से बड़े पुत्र जगतसिंह मेवाड़ की गद्दी पर बैठे। जोधपुर के राजा अजीतसिंह ने लोभ और कायरता में फंसकर जो तीनों राजाओं की संधि तोड़ दी थी, उसे फिर से स्थापित करने के लिये महाराणा जगतसिंह ने हुड़ला नामक स्थान में सब राजाओं को एकत्र किया और वहां पर इष्ट देव की शपथ लेकर सबने वही संधि स्वीकार की। उसमें परस्पर के विश्वास और सहायता की व्यवस्था थी। बूंदी के हाड़ा भी इस सभा में सम्मिलित हुये थे। महाराणा ही इस बार भी स्वयं प्रधान बनाये गये और मुगलों की आधीनता त्यागने के लिये रामपुर में एक बहुत बड़ी सेना एकत्र करने का निश्चय हुआ। उन्हीं दिनों दक्षिण में मराठों की प्रभुता बहुत अधिक बढ़ गई थी वे लूट-मार करते और धन लेकर राजाओं की सहायता भी किया करते उन्होंने एक बार दिल्ली तक धूम मचाई और बादशाह से चौथ वसूल की। इन्हीं दिनों नादिरशाह भी लूट पाट मचाता हुआ दिल्ली आ धमका और भयानक लूट मार तथा अग्निकांड किया।

अन्त में दिल्ली के बादशाह ने कई प्रदेश और काबुल आदि देकर उससे अपना पीछा छुड़ाया। कैसी भयंकर परिस्थिति में उन दिनों हमारा यह देश पड़ा हुआ था।

जयपुर व जोधपुर के शासकों ने इस परिस्थिति से लाभ उठा कर अपने पृथक-पृथक स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिए। बाजीराव पेशवा ने मालवे को जीतकर मेवाड़ पर चढ़ाई की। राणाजी ने सालुम्बा-सरदार और प्रधान-मन्त्री बिहारीदास

को सन्धि के लिये भेजा। सन्धि में यह निश्चय हुआ कि राणा-जी हर साल पौने दो लाख रुपया मराठों को दिया करेंगे। उदयपुर के राणा की बहन जयपुर ब्याही हुई थ, उनके माधोसिंह नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ था। सन्धि के अनुसार माधोसिंह को गद्दी न देकर ईश्वरीसिंह को दी गई। माधोसिंह राणा जी के पास शिकायत लेकर पहुंचे। उन्होंने ईश्वरीसिंह पर चढ़ाई करदी। मेवाड़ पर कोई बाहरी संकट तो था ही ही नहीं, इसलिए मेवाड़ के वीर-सरदारों ने घरेलू झगड़ा समझ कर इस युद्ध में विशेष उत्साह न दिखाया, परिणाम यह हुआ कि राणा जी हार गये। राणा की सहायता के लिये बूंदी कोटा वाले भी आये थे। उनसे बदला लेने के लिये ईश्वरीसिंह ने सिन्धिया की सहायता से उन पर भी चढ़ाई करदी। इसमें ईश्वरीसिंह हार गया। राणा जी ने पीछे से होल्कर राज्य की सहायता मांगी और कहा कि यदि मेरा भानजा माधोसिंह जयपुर की गद्दी पर बैठा दिया जाये तो आप को ६४ लाख रुपये दिये जायेंगे। होल्कर ने माधोसिंह को गद्दी पर बैठा दिया और महाराणा से ६४ लाख रुपये ले लिये मराठों को पता लग गया कि मेवाड़ में अधिक धन है तभी सन १७५२ ई० में महाराणा जगतसिंह की मृत्यु हो गई।

राणा जगतसिंह के बाद उनके पुत्र प्रतापसिंह राजगद्दी पर बैठे। उन्होंने केवल तीन वर्ष ही राज्य किया और तीन बार मराठों ने उनके शासन-काल में मेवाड़ पर आक्रमण किया। जयपुर के राजा राजसिंह की पुत्री से उनका विवाह

हुआ था। इस रानी के गर्भ से राजसिंह उत्पन्न हुये और वे पिता की मृत्यु के बाद सिंहासन पर बैठे। इन्होंने सात वर्ष तक राज्य किया और प्रत्येक वर्ष मराठों ने आक्रमण करके इनसे कर वसूल किया। सन् १७६२ ई० में राजसिंह के चाचा अमरसिंह गद्दी पर बैठे। इनके शासन-काल में मल्हार राव होल्कर की चढ़ाई हुई और अमरसिंह ने ५१ लाख रुपया देकर उससे सन्धि करली। इसी समय मेवाड़ के सरदारों में आपस में फूट फैली। राणा ने एक पराक्रमी राजपूत जालिमसिंह को अपना सरदार बना लिया था। उसी की राय से सरदारों का विद्रोह दबाने के लिये राणाजी ने महाराष्ट्र सेनापति रघुपांगे और दौला-मियां नामक एक मुसलमान को अपने यहां बुला लिया।

सरदारों ने माधोजी सिन्धिया को अपने पक्ष में करके युद्ध लड़ना आरम्भ किया, किन्तु सरदारों की हार हुई और वे माधोजी के साथ उज्जैन भाग गये। राणा की सेना पूर्ण विजय समझ कर आनन्दोत्सव मनाने लगी। तभी माधोजी ने अपनी सेना सजा कर पुनः चढ़ाई करदी और राणा जी को बड़ी हानि उठानी पड़ी। सालुम्ब्रा शाहपुर और बुनेरा के सब सरदार मार दिए गये। जालिमसिंह पकड़े गये और दौलामियां बुरी तरह से घायल हुये। जालिमसिंह दो वर्ष बाद कुछ धन देकर छूट गये। थोड़े दिनों बाद सिन्धिया ने उदयपुर घेर लिया। उस समय सालुम्ब्रा-सरदार भीमसिंह को नगर की रक्षा का भार दिया गया। राणाजी के पुराने मन्त्री कष्ट होकर

चले गये थे। उदयपुर पर संकट आया समझ कर वैश्य-कुल-भूषण अमरचन्द बरवा ने मन्त्री पद ग्रहण किया। सैनिकों को वेतन न मिलने के कारण वे सब विरुद्ध हो रहे थे। बरवा जी ने राजकोष में पड़ी हुई बहुत सी अनावश्यक वस्तुओं को बेच कर उस धन से सेना का कुल वेतन चुका दिया। बाजारों में व्यापार भी फिर से चमकने लगा। मराठों ने इन्हीं दिनों ७० लाख रुपये लेकर राणा जी से सन्धि करना स्वीकार किया था। इस बात को सुन कर सिन्धिया की लालसा और बढ़ गई। सन्धि पर सही कर उन्होंने २० लाख रुपये और मांगे। अमरचन्द को क्रोध आया और उन्होंने सन्धि पत्र को फाड़ कर टुकड़े टुकड़े कर दिया। युद्ध आरम्भ हुआ और छः मास तक इधर-उधर लड़ाई होती रही। अन्त में ग्रीष्म ऋतु में अमरचन्द ने सिन्धिया की सेना के पास जल का आना बन्द कर दिया। पानी न मिलने के कारण वह घबरा गया और उसने पुनः सन्धि का प्रस्ताव किया। अमरचन्द ने कहा कि छः महीने की हानि काटने पर ७० लाख से जो बचे वह लेना हो तो ले लो।

अन्त में साढे तिरसठ लाख रुपये में फैसला हुआ, जिसमें ३३ लाख तो नक़द दिये गये और ३०॥ लाख में कई गांव बंधक रखे गये। आहेरिया के उत्सव पर राणा अमरसिंह को एक हाड़ा-राजपूत ने मार डाला और उनकी एक उप-पत्नी उनके साथ सती हो गई। सन् १७७३ ई० में उनका बड़ा पुत्र हमीर गद्दी पर बैठा। उसकी अवस्था केवल १२ वर्ष होने के

कारण, शासन की देख-भाल राज-माता ही किया करती थीं। मराठों ने फिर उदयपुर पर चढ़ाई की। लोगों के बहकाने से राजमाता अपने मन्त्री अमरचन्द से असंतुष्ट रहने लगीं। उन्होंने अपनी सफ़ाई के लिये अपनी सारी सम्पत्ति और वस्त्र तक भी उनके पास भेज दिये, किन्तु फिर भी उनका हृदय शुद्ध न हुआ और अन्त में उन्हें विष देकर मरवा डाला। अमरचन्द के मरते ही मराठों ने फिर मेवाड़ पर आक्रमण किया और छः लाख रुपया वार्षिक कर उन्होंने मेवाड़ जैसी वीर-भूमि से वसूल किया। सन् १७७८ ई० में राणा हमीरसिंह स्वर्गवासी हुये और उनके छोटे भाई भीमसिंह गद्दी पर बैठे। उन्होंने लगभग ५० वर्ष तक राज्य किया।

महाराणा भीमसिंह के शासन-काल में मराठों का बल ढीला पड़ चुका था। महाराणा जी के दीवान मालदास मेहता ने अपने सहकारी मौजीराव के साथ नीम-बहेड़ा और उसके आस-पास के सब क़िले दबा लिये और जावदा के क़िले पर भी चढ़ाई की। मेवाड़ के अन्य सरदार भी वैर-भाव को भूल कर उनसे आ मिले और मेवाड़ की खोई हुई सारी भूमि का उन्होंने उद्धार कर लिया। उदयपुर वाले अपनी इस विजय से इतना प्रसन्न हुये कि उन्होंने मराठों के गांवों पर अधिकार जमाना शुरू कर दिया। अपनी भूमि भी हाथ से जाती देखकर होल्कर-वंश की वीराङ्गना महारानी अहिल्या बाई एक दम क्रुद्ध हो उठीं। सन् १७८८ ई० में अहिल्या बाई की सेना मंसोर के के पास राणा जी की सेना के साथ भिड़ गई और बड़ा घोर

संग्राम हुआ। राणा जी का मन्त्री बहुत-सी सेना सहित मारा गया और कई बड़े-बड़े सरदार भी पकड़े गये। जो परगने मेवाड़ वालों ने छीने थे, उनमें से जावदा को छोड़कर बाकी सब मराठों के आधीन हो गये।

राणा भीमसिंह की कृष्णा कुमारी नामक अत्यन्त रूपवती एक कन्या थी। उसका विवाह जयपुर नरेश जगतसिंह के साथ निश्चित हुआ था; किन्तु जोधपुर का राजा मानसिंह उसे अपने लिये प्राप्त करना चाहता था फलस्वरूप दोनों ओर से युद्ध की तैयारियां शुरू हो गईं। राजकुमारी कृष्णा ने मानवरक्त से मातृ-भूमि को रँगने से बचा लिया और स्वयं विषपान करके चिर-निद्रा की गोद में सो गई। इन दिनों मेवाड़ की अवस्था इतनी शोचनीय हो गई थी कि लिखते हुये हृदय रो उठता है और हाथ कांपने लगते हैं। एक ओर अमीर खां नामक एक म्लेच्छ वहां लूट-पाट मचा रहा था, तो दूसरी ओर मराठों का अत्याचार भी पराकाष्ठा को पहुंच चुका था। उन्हें लाखों रुपया 'कर' देते समय महाराणा को अपने तथा अपनी रानियों के वस्त्राभूषण तक बेच देने पड़े। ओह! आज महाराणा प्रताप की पुण्यमयी लीलाभूमि की यह दुर्दशा हो रही थी! कहाँ गया हिन्दुओं का वह प्राचीन गौरव?

अन्त में सन १८१७ ई० के अक्टूबर मास में लार्ड हेस्टिंगज़ ने सब राजपूतों की दिल्ली में एक सभा की, जिसमें महाराणा के साथ सन्धि हो गई और अँग्रेजों ने मेवाड़ में पड़े हुए सब शत्रुओं को भगा कर वहां पूर्ण-शान्ति स्थापित करदी।

यद्यपि मेवाड़ का वह प्राचीन वैभव अब नहीं रहा, किन्तु 'मेवाड़ गौरव-गाथा' हमें सदा हमारे पूर्व-पुरुषों के गौरवपूर्ण एवं आदर्श मय जीवन-चरित्रों की याद दिलाती रहेगी ! ओ३म् शान्ति शान्ति शान्ति ॥

* समाप्त *

वीर-शिरोमणि हिन्दूधर्म-संरक्षक—

छत्रपति-शिवाजी

(लेखक:—लाला लाजपतराय)

जिस समय मुगल-साम्राज्य समस्त देश को हड़प कर चुका था। सम्राट् औरङ्गजेब ने हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के लिये अपनी समस्त शक्ति लगा दी थी। हमारे धर्मशास्त्र, मठ-मन्दिर, गो-ब्राह्मण, साधु-सन्यासी, उसकी दया पर अवलंबित थे! औरङ्गजेब चाहता था कि एक बार समस्त भारत के हिन्दुओं को मुसलमान बना डालूं! उसी समय दक्षिण के एक छोटे से मुसलमानी राज्य बीजापुर के कर्मचारी के यहां एक बालक का जन्म हुआ। पूर्वजन्म के पुण्य-प्रताप से उसे ऐसी सुविधायें मिलीं कि बचपन में ही उसे आत्म बोध हो गया। उसने आस पास गंवार-मावलों को साथ लेकर सङ्गठन शुरू किया, और अन्त में गुरु रामदास के उपदेश से इसी बालक ने बिना विद्या और धन-दौलत के, वैभवशाली हिन्दू साम्राज्य स्थापित करने का बीड़ा उठाया! दक्षिण के समस्त राज्यों को छान-कपट कर महान् हिन्दूधर्म की शताब्दियों से गिरी हुई विजय-पताका को फहरा दिया। समस्त देश में हलचल हो उठी। सम्राट् औरङ्गजेब का आसन डोला। उसने अपनी समस्त शक्ति लगाकर शिवा जी को खत्म करना चाहा। परन्तु शिवा जी की शक्ति बढ़ती ही गयी। पुस्तक में सम्पूर्ण शिवा जी का जीवन-चरित्र और शिवा जी का पत्र जैसिंह के नाम, तथा उनके अद्भुत कार्यकलापों का वर्णन है। भाषा ओजस्विनी। आप पढ़िये और बालक-बालिकाओं को पढ़ाकर उनके चरित्र को गठित कीजिये। १।।) डाक व्ययअलग

हिन्दू-सूर्य, क्षत्रिय-कुल-मुकुट-मणि

महाराणा-प्रताप

जिस समय यवन-साम्राज्य की अग्नि-ज्वाला में समस्त देश, धू-धू करके बिना रोक टोक के दग्ध हो रहा था। सम्राट् अकबर ने ओहदों और पदों का लालच दे और अपनी अतुल शक्ति आतंक दिखा कर, कुलीन राजपूतों की कन्याओं तक से विवाह करना आरम्भ कर दिया था। उसी समय महाराणा प्रताप ने एक ऐसी हुंकार-ध्वनि की, कि समस्त देश कांप उठा! मुगल-सम्राट् का तख्ते ताऊस हिल गया! हिन्दुओं ने बिजली की कड़कड़ाहट में देखा कि हिन्दू-जाति का अस्तोन्मुख सूर्य अभी अस्त नहीं हुआ है! मेवाड़ की कन्दराओं में से उसकी रश्मियां पहुंच कर डूबती हुई हिन्दू जाति को आश्वासन दे रही थीं! महाशक्तिशाली मुगल सम्राट् ने हिन्दू जाति के मेवाड़ में टिमटिमाते हुये इस दीये को गुल करने के लिये एक बार नहीं, जन्मभर ज़ोर लगाया, परन्तु महाराणा प्रताप का, प्रताप—नहीं हिन्दू जाति का प्रताप, बराबर उसको अंगूठा दिखाता रहा। मुट्ठी भर साथियों को लेकर महाराणा प्रताप ने जीवन की अन्तिम घड़ी तक, हिन्दू-जाति की विजय-पताका को बराबर फहराये रखा। यह उन ही महामहिम महाराणा-प्रताप का ओजस्विनी भाषा में लिखा जीवन चरित्र और इतिहास है। मूल्य २।) मात्र। बालक-बालिकाओं को पढ़ाइये और वीर बनाइये।

पता:—देहाती पुस्तक भँडार, चावड़ी बाजार देहली।

कृष्णा प्रिंटिंग प्रेस चर्खेवालान, देहली।